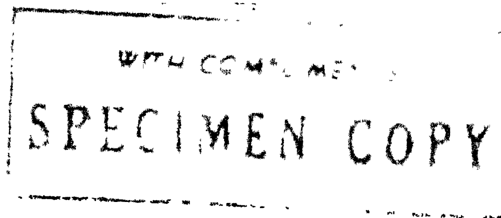
राजकमल विश्व-परिचय-माला

बर्मा

ब्रह्म-देश का भौगोलिक एवं सामाजिक परिचय



सत्यपाल विद्यालंकार





राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

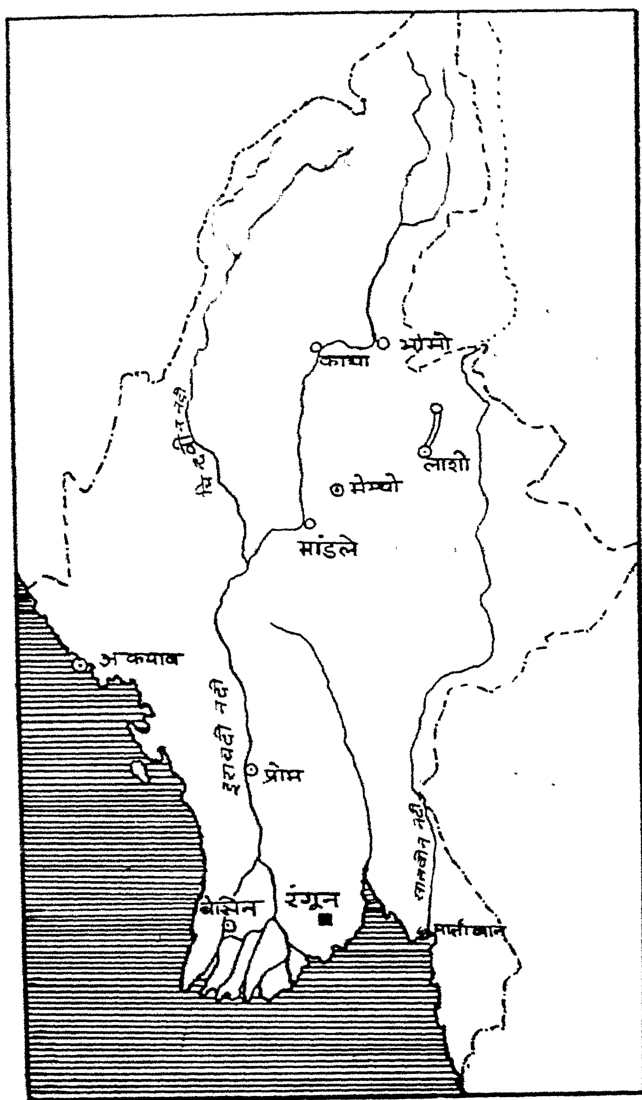
युस्नेको के सहयोग से प्रकाशित
प्रथम संस्करण, दिसम्बर, १९५८

मूल्य दो रुपये

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं
द्वारका नाथ भार्गव द्वारा भार्गव प्रेस, इलाहाबाद से मुद्रित।

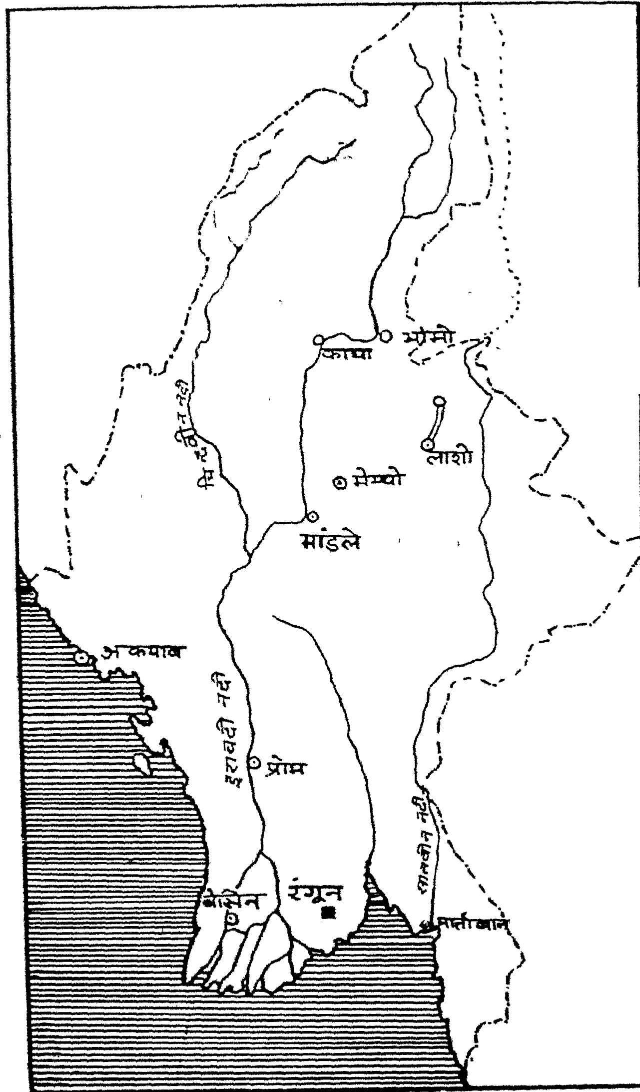
इस पुस्तक-माला का मूल उद्देश्य पाठकों को विश्व के सभी देशों की सामान्य भौगोलिक-सामाजिक जानकारी देना है। विभिन्न महाद्वीपों पर अलग-अलग पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं।

क्रम



बर्मा

इस पुस्तक-माला का मूल उद्देश्य पाठकों को विश्व के सभी देशों की सामान्य भौगोलिक-सामाजिक जानकारी देना है। विभिन्न महाद्वीपों पर अलग-अलग पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं।



बर्मा

१. बर्मा : एक परिचय

भौगोलिक

बर्मा भारत के दक्षिण-पूर्व में है। दोनो देशों के बीच हिमालय की वे छोटी-छोटी पर्वत-शृंखलाएँ हैं जो उत्तर-दक्षिण की ओर चली गयी हैं। उधर पटकई नाम की पर्वत-शृंखलाएँ चीन और स्याम से बर्मा को पृथक् करती हैं।

बर्मा में चार मुख्य नदियाँ हैं—इरावती, चिंदविन, सितांग और सालवीन। इन चारों नदियों का प्रवाह उत्तर से दक्षिण की ओर है। इरावती इनमें सब से बड़ी है, और इसी के किनारे पर रंगून बसा है, जो बर्मा की राजधानी है।

बर्मा में पानी की बहुतायत है। चावल खूब पैदा होता है। अकाल शायद ही वहाँ कभी पड़ा हो। साल में छह महीने, मई से अक्तूबर तक, वर्षा होती है। जलवायु न गरम है, न ठंडा।

बर्मा का क्षेत्रफल २,६१,७८६ वर्गमील है।

बर्मा के निवासी

बर्मा की कुल आबादी १,८०,००,००० है। इनमें १,४०,००,००० के करीब बर्मी हैं और शेष ४०,००,००० विदेशी, जो वहाँ अब बस गये हैं। इन चालीस लाख में भारतीयों की संख्या सात लाख से कुछ ऊपर है। शेष में शान और करेन जातियाँ मुख्य हैं।

यह लिपि दक्षिण भारत की पल्लव लिपि से, जो ब्राह्मी लिपि पर आधारित है, काफ़ी मिलती-जुलती है। अब यह पल्लव लिपि बर्मा में हर जगह प्रचलित है और शान व थाई जातियों की भाषाओं के लिए भी यही लिपि प्रयोग में आती है।

बर्मी भाषा में बारह हज़ार शब्द ऐसे हैं जो बर्मी, चीनी और तिब्बती भाषाओं में एक-से हैं।

बर्मी साहित्य में धार्मिक ग्रन्थों की प्रधानता है। बर्मी लोगों की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा फुंजियों (बौद्ध गुरुओं) की अध्यक्षता में चाँवों—बौद्ध मठों—में होती रही है; अतः यह स्वाभाविक है कि वहाँ के साहित्य पर बौद्ध धर्म की ज़बर्दस्त छाप हो।

बर्मी साहित्य का श्रीगणेश पाली भाषा में लिखे बौद्ध पिटकों के अनुवादों से हुआ। पर शीघ्र ही वहाँ के मनीषियों ने स्वतन्त्र साहित्य की रचना आरम्भ कर दी। अब तो बर्मी भाषा में कानून, चिकित्सा, ज्योतिष और राजनीति पर प्रचुर साहित्य विद्यमान है। बर्मी साहित्य का पूर्ण विकास १८वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९वीं शताब्दी के मध्य तक, सौ वर्षों के बीच में हुआ। इन सौ वर्षों को बर्मी साहित्य का स्वर्ण-युग कह सकते हैं। इन सौ वर्षों में बर्मा पर अलंगपाया राजवंश का शासन रहा। इसी काल में इतिहास, राजनीति और विज्ञान जैसे गम्भीर विषयों पर बर्मी भाषा में ग्रंथ लिखे गये।

साहित्य और संस्कृति के विकास के प्रति बर्मा की आधुनिक राष्ट्रीय सरकार का विशेष ध्यान है। इस ओर पहला कदम सन् १९५२ में उठाया गया, जब एक विशेष परिषद् की स्थापना की गयी, जिसने राष्ट्रीय पुस्तकालय, राष्ट्रीय संग्रहालय,

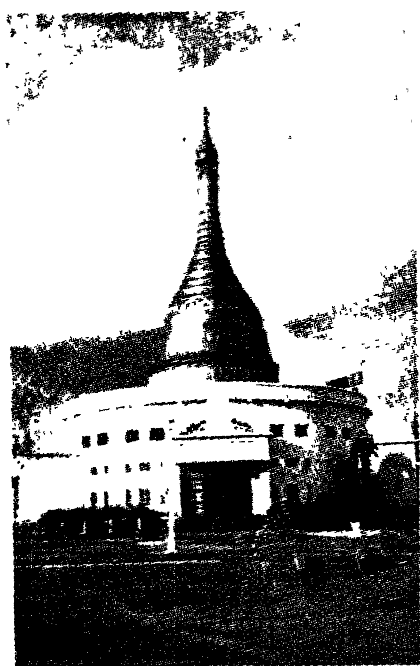
संगीत, अभिनय और नृत्य-कला के पूर्ण विकास के लिए ठोस कदम उठाये ।

सन् १९५२ के अप्रैल मास में बर्मा की राष्ट्रीय सरकार में एक अलग मंत्रिमंडल इस काम के लिए बनाया गया जिसका एकमात्र काम साहित्य और संस्कृति की उन्नति हो ।

बर्मा के अधिकांश निवासी (१,४५, ००,०००) गाँवों में बसते हैं। गाँवों की संख्या पचास हज़ार है, और शहरों की २७६; इन २७६ में भी ऐसे शहरों की संख्या कुल तीन है जिनकी आबादी एक लाख या इससे ऊपर हो। कुल नब्बे शहर ऐसे हैं जिनमें नगरपालिकाएँ हैं।

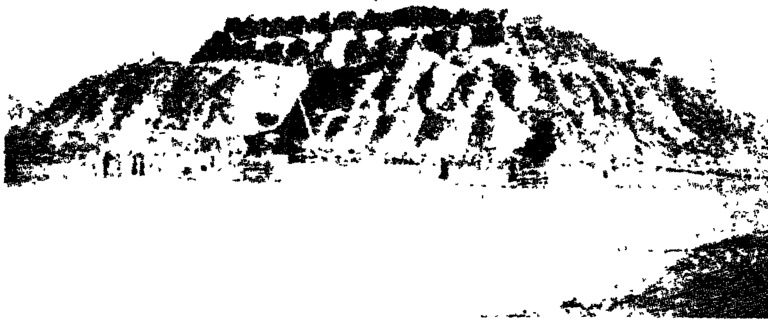
सांस्कृतिक-धार्मिक

बर्मी भाषा में म्यामा मनुष्य को कहते है। म्यामा से बिगड़कर बामा और बामा से बर्मा बना है। बर्मा की सांस्कृतिक विशेषता यही है कि वहाँ मनुष्यता के अतिरिक्त और कोई जाति-पाँति नहीं है। वहाँ बौद्ध धर्म की प्रधानता है और नब्बे प्रतिशत निवासी बौद्ध धर्म के माननेवाले हैं। फिर भी, बर्मा सच्चे अर्थों में धर्म-निरपेक्ष है। हिन्दू, सिख, मुसलमान और ईसाई सभी के अपने-अपने पूजा-स्थान हैं और उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता है। वहाँ धार्मिक झगड़ा कभी नहीं हुआ



रंगून का शान्ति पगोडा

पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता होने पर भी धर्म-परिवर्तन जैसी



सन् १९५६ में २५००वीं बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर
शान्ति पगोडा के समीप विशेष रूप से निर्मित कृत्रिम गुफा।

चीज़ वहाँ कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई। ईसाई-प्रचारक वहाँ हैं। पर वे भी बर्मा के बौद्धों को कभी अपनी ओर नहीं खींच सके। इसका कारण क्या है? इसका एकमात्र कारण शायद यही है कि वहाँ के लोगों में जात-पाँत और ऊँच-नीच का भेद-भाव न होने से एकता है, और तिरस्कार व उपेक्षा से पीड़ित होकर उन्हें दूसरे धर्म में जाने की ज़रूरत नहीं होती।

बर्मा को पगोडों का देश कहते हैं। बौद्ध-मन्दिर पगोडा कहे जाते हैं। ये सहस्रों की संख्या में देश के प्रत्येक भाग में बिखरे हुए हैं।

भाषा व साहित्य

बर्मी भाषा व साहित्य पर उन बाहरी जातियों का अत्यधिक प्रभाव है जो समय-समय पर बर्मा में आयीं। बर्मी भाषा व लिपि ने पहले-पहल एक निश्चित रूप-रेखा ११वीं शताब्दी में अपनायी।

२. बर्मा का इतिहास

बर्मा का क्रमबद्ध इतिहास ईसा की ११वीं शताब्दी के बाद ही से मिलता है। इससे पहले के बारे में तो सिर्फ़ इतना मालूम है कि अनेक जातियाँ समय-समय पर मध्य एशिया, तिब्बत और चीन से बर्मा में प्रविष्ट होती रहीं और जहाँ ठिकाना मिला, बसती गयीं। स्वभावतः ईसा की ११वीं शताब्दी से पहले बर्मा में अनेक जातियों के छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये।

११वीं शताब्दी में, पहले-पहले, राजा अनब्रहत ने इन बिखरी जातियों को एक सूत्र में पिरोकर बर्मा में सार्वभौम राज्य की स्थापना की। राजा अनब्रहत का काल सन् १०४४ से सन् १०५७ तक माना जाता है। उसने अपनी राजधानी पगान में स्थापित की, जो इरावती नदी के तट पर मध्य बर्मा में एक प्राचीन शहर है।

इसी राजा के काल में, बर्मा में बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का प्रचार हुआ। इससे पहले वहाँ महायान का प्रचार था, जिसमें जादू-टोना, भूत-प्रेत और जन्तर-मन्तर की प्रधानता रहती है।

पगान को चालीस लाख पगोडों का शहर भी कहा जाता है। इतने अधिक पगोडा बर्मा में कहीं भी दूसरी जगह एक शहर में नहीं हैं। पगान शहर क़रीब डेढ़ सौ वर्षों तक अनब्रहत और उसके

वंशजों के राज्य-काल में राजधानी रहा। इसके बाद इस राजवंश को १२८७ में कुबलई खाँ के आक्रमण ने छिन्न-भिन्न कर दिया। कुबलई खाँ मंगोल था। मंगोलों के इस आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि वर्मा फिर अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। ये राज्य अधिकतया शान और मोन जातियों के थे। यद्यपि ये राज्य एक-दूसरे से स्वतन्त्र थे, फिर भी चीन का इन सब पर प्रभुत्व था।

वर्मा की यह हालत १६वीं शताब्दी तक बनी रही। इस हालत में सुधार करने और देश में फिर से एकता स्थापित करने वाले दो राजा हुए। इनमें से पहले का नाम राजा थाबिन श्वेती था। इसका राज्य काल सन् १५३१ से १५५० तक रहा। दूसरे राजा का नाम बेनांग था; इसका शासन सन् १५५० से १५८० तक रहा।


कशिन राज्य की दो लड़कियाँ

वर्मा की यह एकता दो सौ वर्षों तक रही। इसके बाद, १८वीं शताब्दी के शुरू में, शान और मोन जातियों ने फिर सिर उठाया और अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये।

१८वीं शताब्दी के ठीक मध्य में अलङ्गपाया नाम के प्रतापी राजा का उदय हुआ, इसका काल सन् १७५२ से ५८ तक माना जाता है। छोटे-छोटे शान और मोन राजाओं को परास्त करके बर्मा में फिर से इसने एकछत्र राज्य की स्थापना की। अलङ्गपाया के वंशजों का राज्य इसके बाद १८८५ तक क़रीब सवा सौ वर्ष कायम रहा। सवा सौ वर्ष के इस काल को बर्मा का स्वर्णिम युग कहा जाता है। इसी स्वर्ण युग में बोदा-पाया नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ, जिसने सन् १७८५ से १८१६ तक राज्य किया। इस काल में बर्मा की उत्तरी सीमा आसाम तक जा पहुँची। बर्मा ने इस स्वर्ण युग में हर प्रकार से उन्नति की। कला-कौशल, विद्या और आर्थिक उन्नति के साथ-साथ बर्मा में इसी काल में राजनीतिक चेतना भी जाग्रत हुई।

पर दुर्भाग्य से बर्मा का यह स्वर्णिम युग उस देश की स्वाधीनता का अन्तकाल सिद्ध हुआ। इसके बाद बर्मा का क़रीब सवा सौ वर्षों का पराधीनता का युग प्रारम्भ होता है।

बर्मी इतिहास के तीन काल

बर्मा के इतिहास को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए उसे निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

प्रथम काल—१०४४ से १८२३ तक (एकता के लिए संघर्ष का युग) ७८० वर्ष;

द्वितीय काल—१८२४ से १९४७ (ब्रिटिश पराधीनता का युग) १२३ वर्ष;

तृतीय काल—१९४८ से वर्तमान काल तक (स्वाधीनता व चेतना का युग)।

ऊपर प्रथम काल का वर्णन किया जा चुका है। उस काल के

तीन प्रतापी राजाओं का नाम स्मरण रखना चाहिए--थाबिनश्वेती, बेनांग और अलङ्गपाया। इन तीनों में भी थाबिनश्वेती का नाम तो ऐसा है जिसे सुनते ही प्रत्येक बर्मी की छाती स्वाभिमान से उन्नत हो जाती है। वह सूर्य की तरह तेजस्वी था, पर दुर्भाग्य से वह मध्य आकाश तक पहुँचने से पूर्व अस्त हो गया। उसने अपने राज्य के विस्तार में पुर्तगालियों व उनके आधुनिक अस्त्रों की पूरी मदद ली। पर उससे सबसे बड़ी भूल यह हुई कि वह स्याम से युद्ध छेड़ बैठा। उस युद्ध में न केवल उसे असफलता मिली, बल्कि उसकी शक्ति भी बुरी तरह क्षीण हुई।

थाबिनश्वेती का नाम बर्मा के इतिहास में इस बात के लिए अमर रहेगा कि उसने एक विस्तृत और संगठित बर्मा की पहले-पहल कल्पना की और उसे मूर्त रूप देने के लिए ठोस कदम उठाये।

द्वितीय काल (१८२४ से १९४७)

प्लासी के युद्ध (१७५७) के बाद अंग्रेज़ों के पैर भारत में अधिकाधिक जमते चले गये और मरहठों का प्रताप-सूर्य अस्त होता गया। प्लासी के युद्ध के कुल साठ वर्ष के भीतर अंग्रेज भारत के पूरी तरह मालिक बन बैठे और उनकी शक्ति इतनी दृढ़ हो गयी कि उन्हें भारत से बाहर पाँव फैलाने की सूझी।

उधर बर्मा भी उन दिनों राजा अलङ्गपाया के प्रयत्नों के फलस्वरूप अपने पूर्ण यौवन और शक्ति में था। इसका स्वाभाविक परिमाण यही हुआ कि दो महत्त्वाकांक्षी पड़ौसियों में ठन गयी। इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि बर्मा ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग बनाकर भारत में मिला दिया गया।

१८वीं शताब्दी के ठीक मध्य में अलङ्गपाया नाम के प्रतापी राजा का उदय हुआ, इसका काल सन् १७५२ से ५८ तक माना जाता है। छोटे-छोटे शान और मोन राजाओं को परास्त करके बर्मा में फिर से इसने एकछत्र राज्य की स्थापना की। अलङ्गपाया के वंशजों का राज्य इसके बाद १८८५ तक क़रीब सवा सौ वर्ष कायम रहा। सवा सौ वर्ष के इस काल को बर्मा का स्वर्णिम युग कहा जाता है। इसी स्वर्ण युग में बोदा-पाया नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ, जिसने सन् १७८५ से १८१९ तक राज्य किया। इस काल में बर्मा की उत्तरी सीमा आसाम तक जा पहुँची। बर्मा ने इस स्वर्ण युग में हर प्रकार से उन्नति की। कला-कौशल, विद्या और आर्थिक उन्नति के साथ-साथ बर्मा में इसी काल में राजनीतिक चेतना भी जाग्रत हुई।

पर दुर्भाग्य से बर्मा का यह स्वर्णिम युग उस देश की स्वा-धीनता का अन्तकाल सिद्ध हुआ। इसके बाद बर्मा का क़रीब सवा सौ वर्षों का पराधीनता का युग प्रारम्भ होता है।

बर्मी इतिहास के तीन काल

बर्मा के इतिहास को पूर्णतया हृदयंगम करने के लिए उसे निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

प्रथम काल—१०४४ से १८२३ तक (एकता के लिए संघर्ष का युग) ७८० वर्ष;

द्वितीय काल—१८२४ से १९४७ (ब्रिटिश पराधीनता का युग) १२३ वर्ष;

तृतीय काल—१९४८ से वर्तमान काल तक (स्वाधीनता व चेतना का युग)।

ऊपर प्रथम काल का वर्णन किया जा चुका है। उस काल के

उन दिनों बर्मा के शासकों और जनता दोनों को ब्रिटिश शक्ति के बारे में कुछ नहीं मालूम था और वे उसे अत्यन्त तुच्छ समझते थे। उनके ख़याल में ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी थी जिसका बहादुरी से कोई सरोकार नहीं था। बर्मी शासकों ने मोन व दूसरी जातियों को दबाकर अपने देश में सुन्दर राज्य-व्यवस्था स्थापित कर ली थी। वे इस कदर नशे में चूर थे कि अपने-आपको एक ऐसी अजेय शक्ति समझने लगे थे जिसका मुकाबला संसार में कोई नहीं कर सकता।

बर्मा और ब्रिटिश भारत के बीच धीरे-धीरे तनाव बढ़ता गया और १८१६ तक हालत यहाँ तक पहुँच गयी कि उसने खुले संघर्ष का रूप ले लिया। बर्मा ने आगे बढ़कर आसाम पर अपना कब्ज़ा जमा लिया और वहाँ के राजा को बाहर खदेड़ दिया।

मार्च १८२४ में अंग्रेज़ों ने बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी। इस घोषणा का तत्कालीन बर्मी राजा के द्वारा बड़ा मज़ाक उड़ाया गया। उसकी नज़र में ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ युद्ध करना एक मामूली खिलवाड़ था, जिसके लिए चिन्तित होने की कोई बात न थी। उसे क्या मालूम था कि वह युद्ध एक आधुनिकतम शक्ति के साथ होने जा रहा था, जिसका मुकाबला बर्मा के पुराने ढर्रे की युद्ध-सामग्री से होना असंभव था।

ब्रिटिश भारत और बर्मा के बीच उस समय तीन युद्ध हुए। पहला युद्ध १८२४ में, दूसरा १८५२ और तीसरा युद्ध १८८५ में। इन तीन युद्धों में एक बात बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण हुई। अंग्रेजों की ओर से लड़नेवाली सेना में अधिक संख्या भारतीयों की थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बर्मा में भारतीयों के प्रति एक रोष की लहर व्याप गयी और प्रत्येक भारतवासी को वे शत्रु की

दृष्टि से देखने लगे।

स्वतन्त्र बर्मा के आखिरी राजा थीबा को उसके महल में २८ नवम्बर १८८५ के दिन कैद करके रत्नागिरि (बम्बई राज्य) में भेज दिया गया।

उन दिनों भारत के गवर्नर जनरल लार्ड डफ़रिन थे। उनकी एक घोषणा के अनुसार १ जनवरी १८८६ के दिन बर्मा भारत का अंग बना लिया गया।

बर्मा और भारत एक ही देश के रूप में क़रीब पचास वर्ष तक अर्थात् १९३७ तक रहे। इसके बाद, १९३७ में, बर्मा को भारत से अलग करके एक स्वतन्त्र देश का रूप दे दिया गया, और वहाँ का गवर्नर जनरल सीधे ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति जिम्मेदार रहने लगा।

सन् १९३५ से १९४७ तक का १२ वर्षों का इतिहास बर्मा के राष्ट्रीय संघर्ष और स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास है। बर्मा में सबसे पहली राजनीतिक पार्टी का जन्म सन् १९३६ में हुआ। इस पार्टी का नाम रखा गया—थाकिन। बर्मी भाषा में थाकिन का अर्थ है स्वामी या प्रभु। इस पार्टी का एक ही नारा था कि बर्मा की स्वामिनी या प्रभु बर्मा की जनता ही हो सकती है, अंग्रेज लोग नहीं। इसी से इस पार्टी का नाम थाकिन पड़ गया, और इस पार्टी के नेता थाकिन कहलाने लगे।

बर्मा के दो प्रसिद्ध नेता हुए—थाकिन आंग सान और थाकिन नू।

उन दिनों अंग्रेज़ों की दासता से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय थाकिन नेताओं को यही सूझा कि जापान से भीतर-ही-भीतर निकट सम्पर्क स्थापित किया जाये और उनकी सहायता

से अंग्रेज़ों को खदेड़ दिया जाये। अनेक नेताओं ने जापान जाकर सैनिक शिक्षा भी ली।

सन् १९४१ के दिसम्बर में जब जापान ने ब्रिटेन के साथ बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी तब इन बर्मी नेताओं ने जापान का खुले हृदय से स्वागत किया और उनकी मदद से अपने देश को अंग्रेज़ों की अधीनता से मुक्त कर दिया। १९४२ से १९४५ तक बर्मा एक प्रकार से स्वाधीन रहा। यद्यपि जापान का उस पर प्रभाव था पर शासन की बागडोर बर्मी लोगों के हाथ में रही।

पर समझदार बर्मी नेताओं को यह बात समझते देर न लगी कि उनकी स्वाधीनता भीतर से खोखली है और वे अंग्रेज़ों के पंजे से निकलकर जापान के पंजे में आ फँसे हैं। वे भीतर-ही-भीतर तिलमिलाने लगे। उन्होंने 'एण्टी-फेसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग' (AFPFL) की स्थापना की; जिसके कर्ता-धर्ता बर्मा के राष्ट्रीय नेता आंग सान स्वयं थे। बर्मा की वास्तविक स्वाधीनता का, जो उसे सन् १९४७ में प्राप्त हुई, अधिक श्रेय श्री आंग सान और उसकी पार्टी ही को है।

दुर्भाग्यपूर्ण घटना

१९ जुलाई १९४७ के दिन बर्मा की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा की गयी, ठीक उसी दिन, आंग सान और उसके साथियों की हत्या कर दी गयी। सारा देश शोक के सागर में डूब गया और निराशा की एक लहर चारों ओर छा गयी; पर इस आड़े वक्त में बर्मी नेता थाकिन नू ने, जो जीवन-भर आंग सान के दायें हाथ रहे थे, असीम साहस का परिचय दिया। हत्या के दूसरे ही दिन उन्होंने अपने मंत्रिमंडल की घोषणा कर दी और

शासन-सूत्र को पूरी तरह सम्हाल लिया।

२४ सितम्बर १९४७ को बर्मा का संविधान पास हो गया: और १७ अक्तूबर के दिन बर्मा और ब्रिटेन के बीच एक सन्धि की घोषणा कर दी गयी जिसके अनुसार बर्मा को एक पूर्ण स्वतन्त्र देश मान लिया गया।

४ जनवरी १९४८ के दिन बर्मा ने बाकायदा अपना स्वाधीनता दिवस मनाया।

तृतीय स्वाधीनता काल के दस वर्ष

४ जनवरी १९४८ से लेकर अब तक के करीब १० वर्षों को बर्मी इतिहास का तृतीय काल कहा जा सकता है। वस्तुत: इस पुस्तक का उद्देश्य इसी तृतीय काल पर विशेष रूप से प्रकाश डालना और आधुनिक बर्मा के चतुर्मुखी विकास का अध्ययन करना है। इस काल के सम्बन्ध में इतनी बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि 'बर्मा बर्मियों के लिए' का नारा इस काल में खास तौर से बुलन्द किया गया।

३. जन-जीवन

हँसती लड़कियों का देश

बर्मा हँसती लड़कियों का देश है। एशिया के किसी भी दूसरे देश में स्त्रियों को वैसी स्वाधीनता हासिल नहीं जैसी बर्मा में है। पैतृक सम्पत्ति में उनका उतना ही अधिकार है जितना पुरुषों का। पर्दा उनमें नहीं है। वे बाज़ार-हाट में स्वच्छन्द भाव से दूकानदारी करती हैं। वे चाहें तो तलाक भी दे सकती हैं और दूसरा विवाह कर सकती हैं। विवाह भी वहाँ चुनाव-प्रथा से होता है, माँ-बाप के निर्णय से नहीं। फिर भी, बर्मी लोगों का दाम्पत्य जीवन स्वस्थ और प्रेममय है। भावुकता, उत्साह और उल्लास बर्मी



कशिन राज्य की एक बालिका

स्त्रियों के स्वभाव में हैं। उन्हें फूलों से प्रेम है। अपने ही नहीं घर-भर के शृङ्गार में उनकी खास दिलचस्पी है।

वर्मी लोग स्वभाव से मौजी हैं। मृत्यु जैसे अवसर पर भी रोना-पीटना वहाँ बुरी बात समझी जाती है। बौद्ध मत के कारण वहाँ मृत्यु को निर्वाण के रूप में लिया जाता है, जिसका अभिप्राय है मनुष्य का दुःखों से छुटकारा। इसलिए उस अवसर पर वहाँ ढोल और बाजे बजाये जाते हैं।

बर्मा के त्यौहार

किसी देश के जन-जीवन की झाँकी उस देश के उत्सवों और त्यौहारों से ली जा सकती है। बर्मा में बारहों महीनों का अपना-अपना त्यौहार है। पर वहाँ का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण त्यौहार 'वासो' है। यह श्रावण पूर्णिमा से शुरू होकर तीन मास तक रहता है। इन तीन महीनों में व्रत, उपवास और पूजा-पाठ की बड़ी धूम रहती है। बौद्ध भिक्षुओं को खुले हाथों दान दिया जाता है। इस अवधि में विवाह नहीं होते। बाहर का सफ़र भी, जहाँ तक सम्भव हो, लोग नहीं करते।

इसके बाद बर्मा का बड़ा त्यौहार तजौंड आता है। जैसे भारत में दीवाली मनाई जाती है, उसी प्रकार इस त्यौहार पर भी घर-घर दीपक जलाये जाते हैं। मिठाइयाँ बँटती हैं। लोग उदारता से दान देते और खुशियाँ मनाते हैं। इसे बर्मा की दीवाली कहें तो अत्युक्ति न होगी। यह त्यौहार तीन दिन तक रहता है।

तीसरा त्यौहार बर्मा का तिंजान है। जैसे बैशाखी का त्यौहार भारत में आमतौर पर १३ अप्रैल को पड़ता है उसी प्रकार तिंजान भी १३ अप्रैल को पड़ता है। यह बर्मा का नववर्ष-दिवस है। नये साल के शुरू में जैसी खुशी और धूमधाम होनी चाहिए

जीवन चलेगा। फूंजी लोग किसी प्रकार की फीस या वेतन नहीं लेते, उनका निर्वाह इसी प्रकार लोगों की श्रद्धा पर चलता है।

भिक्षा माँगते समय यदि बालक के सामने कोई स्त्री आ जाये तो वह ताड़-पत्र की आड़ दे देता है। यह प्रथा एक प्रकार की चेतावनी है कि वह अब ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर रहा है और उसे हर प्रकार की मोह-माया से दूर रहना है।

चाँव में बालक कम-से-कम दो सप्ताह तक रहता है। श्रद्धालु लोग अपने बालकों को अधिक समय तक, कई बार वर्षों तक भी, रखते हैं। चाँव से निकलकर फिर चाहे वह किसी स्कूल या पाठशाला में दाख़िल हो, पर उसका प्रारम्भिक अक्षर-बोध, गिनती और धार्मिक शिक्षा चाँव ही में होनी चाहिए।

उपरोक्त शिनपू संस्कार इतना पवित्र माना जाता है कि अमीर लोग ग़रीब बालकों के शिनपू पर उदारतापूर्वक ख़र्च करना अपना पवित्र और मधुर कर्तव्य समझते हैं। कम-से-कम शिनपू के अवसर पर तो अमीर और ग़रीब बालकों में कोई भेद नहीं रह जाता।

इसी प्रकार बालिकाओं के जीवन में अत्यन्त महत्व का संस्कार उनका कर्णबेध है। दस वर्ष की अवस्था पार कर लेने पर प्रत्येक बालिका का कान छेद दिया जाता है और उसमें बालियाँ पहना दी जाती हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि मृत्यु के अवसर पर बर्मी लोग रोना-पीटना बुरा समझते हैं। उनकी शव-यात्रा भी विचित्र प्रथाओं से युक्त है। शव को एक गाड़ी पर ले जाया जाता है। शव-यात्रा का मार्ग ऐसा नियत किया जाता है कि उसमें पगोड़ा (बौद्ध

वह इस दिन पूरे तौर पर होती है। इसके मनाने का ढंग क़रीब-क़रीब वैसा ही है जैसा भारत में होली का। लोग पानी की पिचकारियाँ भरे गलियों और बाज़ारों में एक दूसरे को तर कर देते हैं: भेद इतना है कि वहाँ पानी में किसी किस्म का रंग नहीं घोला जाता। हाँ, अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों से पानी को सुगन्धित अवश्य कर दिया जाता है। होली की तरह तिंजान भी प्रेम, श्रद्धा और सद्भावनाओं का त्यौहार है।

इस दिन बौद्ध मठाधीशों को, जिन्हें बर्मा में फूजी कहा जाता है, लोग अपने-अपने घरों पर निमन्त्रित करते और अनेक प्रकार से सत्कार करते हैं। बर्मा की यह होली—तिंजान—तीन दिन तक रहती है।



तिंजान के दिन बस के मुसाफिरों पर पानी की पिचकारियाँ छोड़ते हुए लड़के।

बर्मा के बड़े त्यौहार तो उपरोक्त तीन ही हैं। पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, बर्मा में हर महीने का अपना त्यौहार होता है। प्रत्येक त्यौहार के साथ, आम तौर पर, कोई-न-कोई धार्मिक



तिजान के त्यौहार पर नाचती हुई लडकियाँ

गाथा जुड़ी रहती है और उन गाथाओं में से अधिकांश का सम्बन्ध महात्मा बुद्ध के साथ होता है।

सामाजिक प्रथाएँ

बर्मा के सामाजिक जीवन पर बौद्ध विहारों का बड़ा प्रभाव है। इन बौद्ध विहारों को बर्मी भाषा में चाँव कहते हैं। इन चाँवों के अलग-अलग मठाधीश होते हैं जो फूंजी कहलाते हैं। हर गाँव का अपना चाँव होता है, और उसका फूंजी उस गाँव का एक प्रकार से धार्मिक गुरु होता है। सातवाँ वर्ष लगते ही प्रत्येक बालक को कुछ दिन के लिए चाँव में भेज दिया जाता है। वहाँ उसे अपने गाँव के फूंजी का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। इस अवसर पर घर-भर के लोग एक विशेष उत्सव मनाते हैं; इस उत्सव की उपमा अपने देश के उपनयन संस्कार से कुछ-कुछ दी जा सकती है। इस उत्सव को बर्मा में 'शिनपू' कहते हैं। शिनपू के अवसर पर बालक को पीले रंग के रेशमी वस्त्र पहनाकर घोड़े पर सवार

किया जाता और गाँव-भर में घुमाया जाता है। लोग इस बालक को राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में देखते और प्रणाम करते हैं। दिन-भर खाना-पीना रहता है और लोग अपनी-अपनी शक्ति के अनु-सार बालक को प्रेमोपहार देते हैं। इसके बाद, शाम के समय



एक आधुनिक फूंजी चाँव (बाएँ) और एक प्राचीन फूंजी चाँव (दाहिने)

उसका मुंडन संस्कार किया जाता है। उसके एक हाथ में भिक्षा-पात्र और दूसरे में ताड़-पत्र दे दिया जाता है। वह गाँव में घूम-घूमकर भिक्षा माँगता है। इस भिक्षा में जो कुछ उसे प्राप्त होता है वह उसका अपना नहीं होता। वह अपने धार्मिक गुरु, फूंजी, के चरणों में उसे रख देता है और बदले मे उसका आशी-र्वाद प्राप्त करता है। गाँव का प्रत्येक निवासी अन्न, वस्त्र और अनेक प्रकार की जीवनोपयोगी सामग्री बालक के भिक्षा-पात्र में डालता है। उसकी भावना यही होती है कि इससे फूंजी का

जीवन चलेगा। फूंजी लोग किसी प्रकार की फीस या वेतन नहीं लेते, उनका निर्वाह इसी प्रकार लोगों की श्रद्धा पर चलता है।

भिक्षा माँगते समय यदि बालक के सामने कोई स्त्री आ जाये तो वह ताड़-पत्र की आड़ दे देता है। यह प्रथा एक प्रकार की चेतावनी है कि वह अब ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर रहा है और उसे हर प्रकार की मोह-माया से दूर रहना है।

चाँव में बालक कम-से-कम दो सप्ताह तक रहता है। श्रद्धालु लोग अपने बालकों को अधिक समय तक, कई बार वर्षों तक भी, रखते हैं। चाँव से निकलकर फिर चाहे वह किसी स्कूल या पाठ-शाला में दाखिल हो, पर उसका प्रारम्भिक अक्षर-बोध, गिनती और धार्मिक शिक्षा चाँव ही में होनी चाहिए।

उपरोक्त शिनपू संस्कार इतना पवित्र माना जाता है कि अमीर लोग ग़रीब बालकों के शिनपू पर उदारतापूर्वक खर्च करना अपना पवित्र और मधुर कर्तव्य समझते हैं। कम-से-कम शिनपू के अवसर पर तो अमीर और ग़रीब बालकों में कोई भेद नहीं रह जाता।

इसी प्रकार बालिकाओं के जीवन में अत्यन्त महत्व का संस्कार उनका कर्णबेध है। दस वर्ष की अवस्था पार कर लेने पर प्रत्येक बालिका का कान छेद दिया जाता है और उसमें बालियाँ पहना दी जाती हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि मृत्यु के अवसर पर बर्मी लोग रोना-पीटना बुरा समझते हैं। उनकी शव-यात्रा भी विचित्र प्रथाओं से युक्त है। शव को एक गाड़ी पर ले जाया जाता है। शव-यात्रा का मार्ग ऐसा नियत किया जाता है कि उसमें पगोड़ा (बौद्ध

मन्दिर) अवश्य पड़े । पगोडा के आते ही गाड़ी रुक जाती है । गाड़ी को आगे-पीछे झुलाया जाता है और साथ में खूब बाजे बजाते हैं । इस सब का अभिप्राय यह है कि मृतक की आत्मा बुद्ध भगवान् की शरण में जा पहुँची; और यह प्रसन्न होने की बात है ।

बर्मा की विवाह-प्रथा भी विचित्रता को लिये हुए है । सगाई से पहले नवयुवक और नवयुवती का मन मिलना आवश्यक है । इसकी सूचना वे दोनों किसी दिन, अचानक घर से बाहर निकलकर दे देते हैं । माँ-बाप इस सूचना का मतलब खूब समझते हैं और उन्हें वापस बुलाकर विवाह-सूत्र में आबद्ध कर देते हैं । वहाँ जात-पाँत, ऊँच-नीच अथवा और किसी प्रकार का भेद-भाव विवाह-सम्बन्ध में रुकावट पैदा नहीं कर सकता । उसमें मुख्य बात मन मिलना है । मन मिलने पर माँ-बाप की शोभा सहमत होने ही में समझी जाती है । पर यदि किसी कारण वे सहमत न हों तो विवाह रुक सकता है ।

दहेज-प्रथा का बर्मा में नाम-निशान नहीं । विधवा-विवाह आम है ।

रहन-सहन व वेषभूषा

बर्मी समाज को समझना हो तो बर्मी स्त्री को समझना आवश्यक है। उसी पर समाज की नींव खड़ी है । बर्मा की स्त्री स्वभाव से परिश्रमी और कमखर्च होती है । आश्चर्य है कि पूर्ण स्वतन्त्रता होने पर भी बर्मा में स्त्री को अपना घर सब से प्यारा है । स्त्री-स्वतन्त्रता ने वहाँ की पारिवारिक गाँठों को कभी शिथिल नहीं होने दिया ।

नृत्य और संगीत में बर्मा-वासियों की बड़ी रुचि है ।

नाटक को बर्मी भाषा में प्वे कहते हैं और यह कई प्रकार का होता है। ज़ात नामक प्वे का प्रचार अधिक है। इसमें पौराणिक व बौद्ध गाथाओं का चित्रण होता है। यह नाटक कई-कई



बर्मी नृत्य

रात लगातार चलता है, और इसका रूप हमारे यहाँ की रामलीला से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। लोग खा-पीकर और निश्चिन्त होकर ज़ात प्वे में जा बैठते हैं और आधी रात गये घर लौटते हैं।

बर्मी लोग स्वभाव से व्यापारिक बुद्धि के नहीं हैं। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि वहाँ का व्यापार-वाणिज्य अधिकतर विदेशियों के हाथ में चला गया है। इन विदेशियों ने, जिनमें भारतीयों की संख्या अधिक है, उनके भोले स्वभाव से फ़ायदा उठाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ऊँचे सूद पर कर्ज़ देकर उन्होंने

हमेशा के लिए उन्हें बाँध लेने की कोशिश की है, और उसका परिणाम यह है कि बर्मा में विदेशियों के प्रति एक बड़ी अश्रद्धा का भाव विद्यमान है।

उद्योग में भी बर्मा काफ़ी पीछे है। वहाँ का रहन-सहन एक औसत भारतीय की अपेक्षा ऊँचे दर्जे का है। शायद, इसका कारण यह है कि वहाँ आबादी इतनी घनी नहीं है, और जीवन का संघर्ष कुछ कम है।

बर्मी लोगों का मुख्य भोजन चावल और मछली है, इस दृष्टि से वे बंगालियों से बहुत मिलते हैं। उनमें अतिथि-सत्कार की भावना बहुत है। उनके जीवन के चारित्रिक गुण हैं—नम्रता, सफ़ाई और सभ्यता। सभ्यता का तो उन्हें इतना ध्यान रहता है कि खिल-खिलाकर ज़ोरों से हँसना उनके समाज में बुरा समझा जाता है; छोटी-छोटी लड़कियों को उनके माँ-बाप शुरू से पाठ पढ़ाना शुरू करते हैं कि ज़ोर से हँसना बुरा है। बर्मी बच्चों में पड़ौसी के प्रति आदर का भाव भी शुरू से भर दिया जाता है और पड़ौसी की सुविधा के नाम पर किसी बर्मी से बड़ी-से-बड़ी कुरबानी की उम्मीद रखी जा सकती है।

बर्मी लोग बड़े सफ़ाई-पसन्द होते हैं। वेषभूषा में उन्हें रंग-बिरंगे कपड़े प्यारे हैं। क्या पुरुष और क्या स्त्रियाँ, सभी नाना रंगों के कपड़े पहनते हैं। पैरों में उनके जूते चाहे न हों पर सिर से पैर तक अनेक रंगों के कपड़े ज़रूर दिखाई देंगे। उनका मुख्य पहनावा जाकेट और लौंजी है। लौंजी कई-कई गज की होती है और अक्सर वह रेशमी होती है। मद्रासी तहमद की तरह वह बाँधी जाती है। स्त्रियों व पुरुषों के पहनावे में कोई विशेष भेद नहीं है। फ़र्क सिर्फ इतना है कि स्त्रियों की लौंजी

अधिक लम्बी होती है और वह शरीर से सटाकर पहनी जाती है। बदन में स्त्री-पुरुष दोनों सफेद रंग के पतले मलमलनुमा कपड़े की पूरी बाँहों की बंडी पहनते हैं, जिसे ऐंजी कहते हैं। बर्मी पुरुषों के दाढ़ी-मूंछें नहीं होतीं। पहनावा भी स्त्री-पुरुषों का एक-सा है। यदि बर्मी पुरुष सिर पर रुमाल न बाँधे और स्त्रियाँ विशेष ढंग का जूड़ा न करें तो दोनों में पहचान करना कठिन हो जाये।



बर्मी दम्पति आधुनिक वेशभूषा में

बर्मी लोगों के नाम

बर्मी लोगों के नामों को यदि ध्यान से देखा जाये तो उससे उनके स्वभाव और चरित्र पर विशेष प्रकाश पड़ता है। बड़ों के प्रति उनमें इतना अधिक आदर का भाव होता है कि वे उनके नामों के पहले कोई-न-कोई आदर-सूचक विशेषण अवश्य लगाते हैं और वे विशेषण उन नामों के अंश बन जाते हैं। उदाहरण के लिए बर्मी नामों के साथ मांग (भाई), को (बड़ा भाई), मा

बालिकाओं के नामों के नमूने हैं—खरगोश, चंचल, प्रेम।

ऊपर कहा गया है कि बर्मा में प्रत्येक नवजात का सम्बन्ध जन्म-दिन के पशु के साथ होता है। उन पशुओं में कुछेक में परस्पर मित्र-भाव होता है और कुछेक में शत्रु-भाव। विवाह-सम्बन्ध में इस बात का पूरी तरह ध्यान रखा जाता है कि वर-वधू के जन्म-दिन के पशु परस्पर मित्र हों।

४. बर्मा में भारतीय

बर्मा में भारतीयों का प्रवेश कब से शुरू हुआ इसका कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। पर इतना निश्चित है कि खुश्की और समुद्र दोनों मार्गों से भारतीयों का प्रवेश बर्मा में अत्यन्त चिरकाल से होता रहा है और बर्मा की संस्कृति, रहन-सहन व व्यापार-वाणिज्य पर जबर्दस्त भारतीय असर है। इस दृष्टि से बर्मा में भारतीयों का आगमन बर्मा के लिए एक बहुत बड़ी घटना है। इस घटना का पूरा महत्त्व समझने के लिए उसका विस्तार से अध्ययन करना आवश्यक है।

इस घटना को हम मुख्यतया दो भागों में बाँट सकते हैं। एक वह जब बर्मा अंग्रेजों के अधीन होने से पहले स्वतन्त्र देश था, दूसरा वह जब १९वीं शताब्दी के मध्य में वह अंग्रेजों के अधीन होकर भारत का एक अंग बन गया। सन् १८५८ को हम दोनों भागों की विभाजक रेखा मान सकते हैं क्योंकि इस समय तक पेगू, अराकान व तिनासिरम आदि महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हो चुका था और भारतीय लोग भारी संख्या में वहाँ आने लगे थे।

सन् १८५८ से पूर्व भी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारतीयों का प्रवेश चिरकाल से बर्मा में होता रहा, पर उनके आगमन का जैसा वेग और भारी संख्या सन् १८५८ के बाद

दृष्टिगोचर हुई वैसी पहले कभी नहीं हुई ।

सन् १८५८ से पूर्व

बर्मा की प्रसिद्ध जाति मोन का दूसरा नाम तैलंग भी है। इतिहासकारों का कहना है कि ये तैलंग लोग वास्तव में दक्षिण भारत के तेलुगु भाषा-भाषी तैलंग ब्राह्मण ही हैं, जो ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व समुद्री मार्ग से बर्मा के निचले भागों में जाकर बस गये । वे अपने को मनु की सन्तान कहते थे, अतः वे मोन कहलाये । मनु नाम का प्रभाव आज भी बर्मा में इतना अधिक है कि अनेक कानूनी ग्रन्थों का नाम 'मनु का धम्मथात' (मनु का धर्मशास्त्र) है ।

प्राचीन समय में, भारतीय लोग जहाँ-जहाँ भी गये, उपनिवेशवाद की भावना से नहीं, बल्कि धर्म-प्रचार की भावना अथवा अपने साहसी स्वभाव के कारण गये । वे वहाँ जाकर बस गये । पैसा कमाकर भारत भेजना या भारत में बैठकर उन देशों का शासन करना उनके दिमाग में कभी नहीं आया । वे जहाँ भी गये अपने पुरोहितों, रीति-रिवाजों और धार्मिक प्रथाओं को अपने साथ लेकर गये । उनका आचरण दृढ़ और स्वच्छ होता था और इसी से वे दूसरे देशों की जनता को प्रभावित किये बिना नहीं रहते थे ।

बर्मा में जिन भारतीयों का शुरू-शुरू में आगमन हुआ उनमें अधिकांश बौद्ध थे । जो बौद्ध नहीं थे वे भी शीघ्र ही बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गये । ईसवी पूर्व २६१ में कलिंग पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अशोक ने दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म का केन्द्र स्थापित किया, और दक्षिण भारत ही से उन दिनों भारतीयों का प्रवेश बर्मा में हो रहा था ।

बर्मा के प्राचीनतम शिला-लेख, जो आजकल उपलब्ध हैं, ईसा की चौथी शताब्दी के हैं और वे भारत की प्राचीन कदम्ब-लिपि में हैं। बर्मा की किंवदन्तियों, गाथाओं और प्राचीन साहित्य में भारत का, भारतीयों का और हिन्दुओं का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

ईसा की नौवीं शताब्दी में पेगू का राजा थामल था। उसने अपने छोटे भाई विमल को, जो उसके बाद पेगू की गद्दी का उत्तराधिकारी था, उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला के विश्वविद्यालय में भेजा। थामल और उसके बाद विमल के शासनकाल में, भारी संख्या में भारतीय लोग बर्मा में आये और वहीं बस गये। उन दिनों बौद्ध मूर्तियों तथा अनेक प्रकार की साज-शृंगार की सामग्री का भी बर्मा और भारत में व्यापार होता था, पेगू के एक पगोडा में उस जमाने का एक शिलालेख मिलता है, उस पर लिखा है :

'वाराणसी में गंगा के तट पर प्राचीन काल में एक पगोडा (बौद्ध मन्दिर) था। गंगा की एक बाढ़ में वह पगोडा नष्ट-भ्रष्ट हो गया। वहाँ की अनेक सुन्दर बुद्ध-मूर्तियाँ लोगों के हाथ लगीं और उनके बच्चों द्वारा वे खिलौनों के रूप में इस्तेमाल होने लगीं। उन्हीं दिनों एक जहाज के कप्तान की, जो भारत की यात्रा कर रहा था, नज़र उन बुद्ध-मूर्तियों पर पड़ी। उसे एकाएक विचार आया कि यदि उन मूर्तियों को वह बर्मा ले जा सके तो वे अच्छे दाम में बिक सकती हैं। वह यात्री उन मूर्तियों को पेगू में ले आया जहाँ उसे उन मूर्तियों से भरपूर कमाई हुई।'

बर्मा के साथ भारतीयों के प्राचीन सम्पर्क के अनेक प्रमाण वहाँ की नदियों, नगरों व दूसरे स्थानों के नामों से उपलब्ध किये

जा सकते हैं। बर्मा की सबसे बड़ी और प्रसिद्ध नदी का नाम इरावती है। भारतीय नदी रावी का संस्कृत का प्राचीन नाम भी इरावती है। संस्कृत में इरावती का शाब्दिक अर्थ है—विश्राम व शान्ति को देनेवाली। इरावती को बर्मा की गंगा भी कह सकते हैं। यह नदी, गंगा की तरह, बर्मा के बीचोबीच बहती हुई वहाँ के आर्थिक जीवन का मूल स्रोत है।

बर्मा में भारतीयों का प्रवेश १२वीं शताब्दी के शुरू में बहुत ज़ोरों से हुआ। यह वह समय था जब मुसलमानों के हाथों भारत में, विशेषतया बिहार में, बौद्ध मठों का व्यापक रूप से विध्वंस हो रहा था और यहाँ के बौद्धों को भागकर बर्मा व स्याम में शरण लेनी पड़ी थी।

रूसी यात्री नितिकिन ने १५वीं शताब्दी के अन्त में बर्मा की यात्रा करने के बाद अपने संस्मरणों में लिखा था कि पेगू के बड़े बंदरगाह में अधिक आबादी भारतीयों की है।

कहने का अभिप्राय यह कि भारतीयों के धर्म-प्रचारक, व्यापारी और शरणार्थी आदि अनेक रूपों में बर्मा में प्रवेश का ताँता चिरकाल तक चलता रहा और यह ताँता अंग्रेजों के वहाँ आधिपत्य जमाने तक अर्थात् १९वीं सदी के मध्य तक टूटा नहीं।

सन् १८५८ के बाद

१९वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश भारत के बर्मा के साथ एक के बाद एक लगातार तीन युद्ध (१८२४, १८५२ और १८८५) हुए और इन तीन युद्धों के बाद बर्मा पूरी तरह परास्त होकर ब्रिटिश भारत का अंग बन गया।

बर्मा में पूरी तरह पैर जमने के बाद अंग्रेज़ों के सामने

बर्मा के प्राचीनतम शिला-लेख, जो आजकल उपलब्ध हैं, ईसा की चौथी शताब्दी के हैं और वे भारत की प्राचीन कदम्ब-लिपि में हैं। बर्मा की किंवदन्तियों, गाथाओं और प्राचीन साहित्य में भारत का, भारतीयों का और हिन्दुओं का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है।

ईसा की नौवीं शताब्दी में पेगू का राजा थामल था। उसने अपने छोटे भाई विमल को, जो उसके बाद पेगू की गद्दी का उत्तराधिकारी था, उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला के विश्वविद्यालय में भेजा। थामल और उसके बाद विमल के शासनकाल में, भारी संख्या में भारतीय लोग बर्मा में आये और वहीं बस गये। उन दिनों बौद्ध मूर्तियों तथा अनेक प्रकार की साज-शृंगार की सामग्री का भी बर्मा और भारत में व्यापार होता था, पेगू के एक पगोडा में उस जमाने का एक शिलालेख मिलता है, उस पर लिखा है :

'वाराणसी में गंगा के तट पर प्राचीन काल में एक पगोडा (बौद्ध मन्दिर) था। गंगा की एक बाढ़ में वह पगोडा नष्ट-भ्रष्ट हो गया। वहाँ की अनेक सुन्दर बुद्ध-मूर्तियाँ लोगों के हाथ लगीं और उनके बच्चों द्वारा वे खिलौनों के रूप में इस्तेमाल होने लगीं। उन्हीं दिनों एक जहाज के कप्तान की, जो भारत की यात्रा कर रहा था, नज़र उन बुद्ध-मूर्तियों पर पड़ी। उसे एकाएक विचार आया कि यदि उन मूर्तियों को वह बर्मा ले जा सके तो वे अच्छे दाम में बिक सकती हैं। वह यात्री उन मूर्तियों को पेगू में ले आया जहाँ उसे उन मूर्तियों से भरपूर कमाई हुई।'

बर्मा के साथ भारतीयों के प्राचीन सम्पर्क के अनेक प्रमाण वहाँ की नदियों, नगरों व दूसरे स्थानों के नामों से उपलब्ध किये

जा सकते हैं। बर्मा की सबसे बड़ी और प्रसिद्ध नदी का नाम इरावती है। भारतीय नदी रावी का संस्कृत का प्राचीन नाम भी इरावती है। संस्कृत में इरावती का शाब्दिक अर्थ है—विश्राम व शान्ति को देनेवाली। इरावती को बर्मा की गंगा भी कह सकते हैं। यह नदी, गंगा की तरह, बर्मा के बीचोंबीच बहती हुई वहाँ के आर्थिक जीवन का मूल स्रोत है।

बर्मा में भारतीयों का प्रवेश १२वीं शताब्दी के शुरू में बहुत जोरों से हुआ। यह वह समय था जब मुसलमानों के हाथों भारत में, विशेषतया बिहार में, बौद्ध मठों का व्यापक रूप से विध्वंस हो रहा था और यहाँ के बौद्धों को भागकर बर्मा व स्याम में शरण लेनी पड़ी थी।

रूसी यात्री निकितिन ने १५वीं शताब्दी के अन्त में बर्मा की यात्रा करने के बाद अपने संस्मरणों में लिखा था कि पेगू के बड़े बंदरगाह में अधिक आबादी भारतीयों की है।

कहने का अभिप्राय यह कि भारतीयों के धर्म-प्रचारक, व्यापारी और शरणार्थी आदि अनेक रूपों में बर्मा में प्रवेश का ताँता चिरकाल तक चलता रहा और यह ताँता अंग्रेजों के वहाँ आधिपत्य जमाने तक अर्थात् १९वीं सदी के मध्य तक टूटा नहीं।

सन् १८५८ के बाद

१९वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश भारत के बर्मा के साथ एक के बाद एक लगातार तीन युद्ध (१८२४, १८५२ और १८८५) हुए और इन तीन युद्धों के बाद बर्मा पूरी तरह परास्त होकर ब्रिटिश भारत का अंग बन गया।

बर्मा में पूरी तरह पैर जमने के बाद अंग्रेजों के सामने

पहला प्रश्न था उस देश में अंग्रेजी ढंग की शासन-व्यवस्था को चलाना। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उनकी दृष्टि सधे हुए भारतीयों की ओर गयी, जो क़रीब पचास वर्ष के अनुभव से अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शासन-प्रणाली में पूर्णतया निपुण हो चुके थे।

सन् १८५८ तक अराकान, तिनासिरम और पेगू के महत्त्व-पूर्ण बन्दरगाह पूरी तरह अंग्रेजों के कब्जे में आ चुके थे और ये स्थान भारत के प्रान्त समझे जाने लगे थे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सैकड़ों और हज़ारों की संख्या में भारतीय लोग यहाँ आ-आकर इस तरह सहज भाव से बसने लगे मानो वे एक प्रान्त से उठकर दूसरे प्रान्त में आये हों। और सन् १८८५ के बाद, तीसरे और अन्तिम युद्ध की समाप्ति पर, तो यह सिलसिला और भी तेज़ हो उठा। जो भी भारतीय उन दिनों यहाँ आये वे शीघ्र ही बर्मा के सम्पन्न और सफल नागरिक बन गये। दफ्तरों, बैंकों, स्कूलों व कालेजों, शिल्प व उद्योग तथा व्यापार, हर दिशा में भारतीयों की भरमार होने लगी। लांड्री, जूता गाँठने और होटल के कामों में तो भारतीयों का एकछत्र राज्य हो गया। घरेलू नौकर भी भारतीय नज़र आने लगे। फ़ौज, पुलिस और सार्वजनिक सेवा का कोई विभाग ऐसा न रहा जहाँ भारतीयों की बहुसंख्या न हो।

ब्रिटिश हुकूमत के बाद बर्मा में रेल, तार, डाक और कृषि का जिस रफ्तार के साथ विकास हुआ उसमें भारतीयों का सह-योग आवश्यक था। वह खर्चीले और मौजी स्वभाववाले बर्मियों के बस का रोग नहीं था; उसमें परिश्रम, मितव्ययिता और संघर्ष की आवश्यकता थी।

सन् १९४२ के बाद

भारतीयों के आगमन का सिलसिला सन् १८५८ के बाद से लेकर सन् १९४१ तक लगातार चलता रहा। इन क़रीब ८० वर्षों में भारतीय लोग न केवल भारी तादाद में बर्मा में बस गये, बल्कि वहाँ के सर्वाधिक धनी नागरिक भी बन बैठे। उन्होंने रंगून में ऐसी आलीशान इमारतें खड़ी कर लीं कि रंगून बर्मियों का नही वल्कि भारतीयों का नगर नज़र आने लगा। १९४१ तक हालत यह हो गयी कि बर्मा की कुल एक करोड़ सत्तर लाख की आबादी में दस लाख से ऊपर संख्या भारतीयों की हो गयी। अकेले रंगून में, सन् १९३१ में भारतीयों की संख्या दो लाख बारह हज़ार हो गयी, जब कि वहाँ के मूलनिवासियों अर्थात् बर्मियों की संख्या केवल एक लाख अट्ठाईस हज़ार थी। रंगून और कलकत्ता के बीच यातायात के साधन खूब सुलभ होने लगे।

सन् १९३३ की एक दिलचस्प घटना का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। उन दिनों कलकत्ता और रंगून के बीच मुसाफ़िरों को लाने और ले जाने के लिए एकमात्र जहाज़ी कम्पनी जापानियों की थी। डेक अर्थात् थर्ड क्लास का एक ओर का किराया सोलह रुपए था। सन् १९३३ के शुरू में भारत के मारवाड़ी पूंजीपतियों ने अपनी एक अलग जहाज़ी कम्पनी खड़ी कर ली और वे जापानियों के मुकाबले में आ डटे। एक ओर जापान की सरकार थी तो दूसरी ओर मारवाड़ी। इस मुकाबले का मुसाफ़िरों को खूब लाभ हुआ। किराया सोलह रुपए से घटते-घटते शून्य पर आ गया। तब मारवाड़ी कम्पनी ने मुफ्त भोजन-व्यवस्था की घोषणा कर दी। पर जापानी कब हार माननेवाले थे ? उन्होंने इसके मुकाबले में मुफ्त भोजन-व्यवस्था तो कर ही

दी, एक-एक रेशमी रुमाल भी मुसाफ़िरों को भेंट में देना शुरू किया। इन पंक्तियों के लेखक को याद है कि हज़ारों भारतीय उन दिनों बिना किसी प्रयोजन व प्रोग्राम के रंगून-यात्रा पर निकल पड़े। लेखक का दुर्भाग्य कि वह उन दिनों मुकाबला शुरू होने से पहले ही रंगून पहुँच चुका था और जब तक वह वापसी यात्रा की तैयारी करने लगा तब तक वह मुकाबला ख़त्म हो चुका था।

भारतीयों का व्यवहार

बर्मा में भारतीयों की संख्या और प्रभाव दिनोंदिन उन्नति पर था। पर भारतीयों के व्यवहार ने बर्मियों के हृदय में उनके ख़िलाफ़ काफ़ी कटुता पैदा कर दी थी। भारतीयों का बर्मा में एकमात्र उद्देश्य पैसा पैदा करना रह गया था। बर्मी लोग स्वभाव से सीधे और विश्वासी होते हैं। ऊँचे सूद पर पैसा ऋण में देकर भारतीयों ने उनकी ज़मीन व जायदाद हथियाना शुरू कर दी। भारत की व्यापारिक कम्पनियों ने ऊँचे और जिम्मेदारी के पदों पर बर्मियों को नियुक्त न करके भारत से अपने लोगों को बुलाकर रखा। इन सब का परिणाम यह हुआ कि ऊपर से देखने पर तो भारतीयों के कदम बर्मा में मजबूत होते जा रहे थे, पर वास्तव में वे अपने व्यवहार से अपनी जड़ें खोखली करते जा रहे थे।

उपरोक्त कटुता का जबर्दस्त कारण एक और भी था। बर्मा में बसनेवाले भारतीयों ने बर्मी स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये और फिर जब जी चाहा उन्होंने उन्हें छोड़ दिया। इस प्रकार के भारतीयों में अधिक संख्या मुसलमानों की थी। उन विवाहों में किसी प्रकार के विवाह-संस्कार अथवा विधि-

विधान की तो आवश्यकता ही नहीं थी। बर्मा में विवाह की एक उत्तम, सीधी और सरल प्रथा है। कोई भी पुरुष और स्त्री पति और पत्नी की तरह एक साथ रहने लगे, इतना ही इस बात के लिए काफ़ी है कि वे समाज में पति और पत्नी समझे जायें। इस प्रथा का लाभ भारतीय मुसलमानों ने पूरा उठाया। पर मुस्लिम समाज की दृष्टि से इस प्रकार के विवाहों को कोई कानूनी दर्जा हासिल नहीं था: ऐसे विवाहों से पैदा होनेवाले बच्चे भी नाजायज होते थे। इन बच्चों को अपने पिताओं की जायदाद में कोई हक नहीं था। उनके मुसलमान पिता बर्मा में कमाई हुई अपनी सम्पत्ति अपने उन जायज पुत्रों के नाम कर देते थे जो उनकी भारत में रहनेवाली मुसलमान स्त्रियों से पैदा होते थे। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बर्मी स्त्रियों से पैदा होनेवाले इस प्रकार के लावारिस बच्चों की संख्या बढ़ती गयी और वे भारतीय मुसलमानों के उच्छृङ्खल व्यवहार की एक जीती-जागती निशानी बन गये। उन बच्चों की बर्मी माताओं के जीवन भी दुःखान्त नाटक सिद्ध हुए।

यह हालत देर तक नहीं चल सकती थी। सन् १९३८ में इसके विरुद्ध भीषण विद्रोह हुआ। बर्मियों ने भारतीय मुसलमानों के ख़िलाफ़ जिहाद बोल दिया। हजारों मुसलमान मौत के घाट उतार दिये गये, उनका जीवन दूभर हो उठा।

बर्मा में बसनेवाले भारतीयों पर दूसरी बार मुसीबत तब आयी जब १९४२ में जापानियों ने बर्मा पर आक्रमण किया। उस आक्रमण से जन-जीवन जब तितर-बितर हो गया, शासन की बागडोर ढीली हो गयी और चारों ओर उत्पात तथा लूट-मार का बाजार गरम हो उठा तब बर्मी लोग भारतीयों पर टूट

गई। उन्होंने उस अवसर का पूरा लाभ उठाया। कहना न होगा कि भारतीयों के विरुद्ध बर्मियों का यह विद्रोह भीतर-ही-भीतर सुलगनेवाले चिरकाल के रोष का परिणाम था। सच देखा जाये तो यह मुसीबत स्वयं भारतीयों की ही पैदा की हुई थी।

सन् १९३८ का विद्रोह केवल भारतीय मुसलमानों के विरुद्ध था, पर सन् १९४२ का विद्रोह प्रत्येक भारतीय के विरुद्ध था। इस अन्तिम विद्रोह में लाखों भारतीयों को अपना बोरिया-बिस्तरा समेटकर भारत वापस आना पड़ा। हजारों भारतीय मौत के घाट उतार दिये गये। जो भारतीय उन दिनों बर्मा छोड़कर अपने देश वापस आ गये उनकी संख्या तीन लाख साठ हजार कूती गयी है।

स्वाधीनता के बाद

स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद बर्मा में भारत और भारतीयों के प्रति दो विभिन्न मनोवृत्तियाँ एक साथ दृष्टिगोचर हुईं—भारत के प्रति तो मित्रता का भाव, पर भारतीयों के प्रति आशंका का भाव।

भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों और नेताओं ने बर्मा में भारत के प्रति विश्वास और सद्भावना का वातावरण पैदा किया। पर बर्मा में बसनेवाले भारतीयों ने इस वातावरण को आगे बढ़ाने में कोई मदद नहीं की। वे भारतीय अधिकतर व्यापारी, जमींदार अथवा जायदादों के मालिक हैं और पहले ही की तरह शंका की दृष्टि से देखे जाते हैं।

५. बर्मा में बौद्ध धर्म

बर्मा आधुनिक संसार में बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा केन्द्र है। बौद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर यह भविष्यवाणी की गयी है कि महात्मा बुद्ध के निर्वाण के ढाई हजार साल बाद बौद्ध धर्म एक नया प्रगतिशील मोड़ लेगा। ऐसा मालूम होता है, शायद वह मोड़ बर्मा ही से शुरू हो।

स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद बर्मा ने सबसे पहला काम यह किया कि बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए कुछ ठोस कदम उठाये। प्राचीन बौद्ध स्मारकों और विहारों की बाकायदा मरम्मत और देख-भाल शुरू हुई। शासन और संविधान पर भी बौद्ध धर्म की स्पष्ट छाया दीख पड़ने लगी।

महात्मा बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके उपदेशों और शिक्षाओं का समय-समय पर संकलन होता रहा, प्राचीन समय में इस प्रयोजन के लिए अनेक 'बौद्ध-महासभाएँ' हुईं और उनमें संसार-भर के बौद्ध विद्वान् सम्मिलित हुए। इन बौद्ध महासभाओं का यह परिणाम हुआ कि बौद्ध धर्म में उत्तरोत्तर विकास और परिष्कार होता चला गया।

उपरोक्त बौद्ध महासभाओं का चलन ईसवी सन् के बाद प्रायः समाप्त हो गया था। पहली तीन महासभाएँ भारत में बुद्ध-निर्वाण के बाद दो सौ वर्ष के भीतर ही हो चुकी थीं। तीसरी

महासभा ईसा से अस्सी वर्ष पूर्व श्रीलंका में हुई थी।

पर आधुनिक काल में बौद्ध महासभाओं की परिपाटी फिर से प्रचलित करने का श्रेय बर्मा ही को है। क़रीब दो हजार वर्ष की लम्बी नींद के बाद ये महासभाएँ १९वीं सदी के मध्य में फिर से जागीं। सन् १८७० में बर्मा के तत्कालीन राजा



अशोकाश्रम महरौली दिल्ली में
बर्मा के प्रधान मंत्री श्री ऊ नू बोधि वृक्ष रोपते हुए।

मिंडोन ने बौद्ध महासभा का पाँचवाँ अधिवेशन मांडले में करवाया था। उस महासभा में भारत, चीन, जापान, सीलोन और संसार के प्रत्येक भाग से बौद्ध धर्म के महाविद्वान् इकट्ठे हुए थे और उन्होंने सोये हुए धर्म को फिर एक बार जगाने की कोशिश की थी।

मई १९५४ में बौद्धों की छठी महासभा का अधिवेशन भी बर्मा ही में हुआ। इस महासभा के लिए रंगून में शान्ति-

पगोडा के ननीर विशेष भवन तैयार किया गया। बौद्ध धर्म के अब तक के उपलब्ध होनेवाले सम्पूर्ण ग्रंथ वहाँ इकट्ठे किये गये। अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने दो साल तक लगातार उन ग्रंथों की सहायता से बौद्ध धर्म का गम्भीर अध्ययन करने का संकल्प किया। उन्होंने अपने सामने एक स्पष्ट उद्देश्य रखा। बौद्ध धर्म इस समय तक अनेक वादों और शाखाओं में बँटकर अपने असली रूप को खो चुका था। दूसरे धर्मों की तरह बौद्ध धर्म में भी संप्रदायवाद और सूखे तर्क की प्रधानता हो चली थी। इस महा-सभा का सबसे बड़ा काम यह निश्चित हुआ कि वह परिश्रम-पूर्वक उन सभी वादों और शाखाओं का अध्ययन करके बौद्ध धर्म का एक निश्चित, सर्वसम्मत और सुबोध रूप उद्घाटित करे।

इस महासभा की समाप्ति सन् १९५६ में ठीक उस दिन की गयी जब महात्मा बुद्ध के निर्वाण को पूरे २५०० वर्ष बीत चुके थे। बौद्ध ग्रन्थों में बार-बार दुहरायी गयी एक भविष्यवाणी के अनुसार, उसी दिन से बौद्ध धर्म का एक नवीन युग आरम्भ होता है। उस नवीन युग में संसार बौद्ध धर्म की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होगा और बौद्ध धर्म अपना शक्तिशाली रूप पुनः ग्रहण कर लेगा।

बर्मा के पगोडा

पगोडा बौद्ध मन्दिरों को कहते हैं। इन पगोडों में महात्मा बुद्ध से सम्बन्ध रखनेवाले जीवन-वृत्तान्त चित्रित होते हैं। इनकी चोटियाँ अक्सर सुनहरी होती हैं और ये काफ़ी ऊँची होती हैं। बर्मा में पगोडो की संख्या इतनी अधिक है कि अगर उसे पगोडों का देश कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। शाम के

समय इन पगोडों के भीतर बजनेवाले घंटों की मधुर ध्वनि ने अनेक विदेशियों के मन को मुग्ध किया है और उन्होंने मुक्त कण्ठ से इन पगोडों की प्रशंसा की है।

ये पगोडा महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद से अब तक निरन्तर बनते चले आ रहे हैं। यदि बर्मा में बौद्ध धर्म के इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन करना हो तो इन पगोडों का अध्ययन आवश्यक होगा।

श्वडेगों पगोडा

श्वेडेगों पगोडा बर्मा की राजधानी रंगून में है और यह संसार का सबसे बड़ा पगोडा है। यह पगोडा केवल बर्मा ही नहीं, बल्कि संसार के सब बौद्धों में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

श्वेडेगों पगोडा की सर्वप्रथम स्थापना महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद आज से क़रीब ढाई हज़ार साल पहले हुई थी। बर्मा की राजधानी रंगून की स्थापना भी लगभग उसी समय हुई।

एक प्राचीन बौद्ध गाथा के अनुसार, आज से क़रीब ढाई हज़ार साल पहले बर्मा के दो व्यापारी महात्मा बुद्ध के सिर के बाल भारत से लाये थे। आज जहाँ बर्मा की राजधानी रंगून है, उस समय वहाँ ओक्कल (उत्कल ?) नाम का नगर था। ओक्कल के राजा ने उन पवित्र बालों की स्मृति को अमर करने के लिए उनके ऊपर सोने का एक पगोडा बनवाया। उस समय उसकी ऊँचाई केवल सत्ताईस फुट थी।

सन् १३६२ में बर्मा के राजा विनय ऊ ने इस पगोडा की ऊँचाई छाछठ फुट करवा दी। इसके बाद प्रत्येक राजा के लिए



रंगून में सुले पगोडा

एक प्रकार से यह आवश्यक कर्त्तव्य हो गया कि वह इस पगोडा की मरम्मत और देख-भाल पर कुछ-न-कुछ खर्च करे और इसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाये ।

बर्मा की प्रसिद्ध रानी शीन सावू (सन् १४५३ से सन् १४७२ तक) ने इस पगोडा पर भारी व्यय करके इसे बड़ा सुन्दर रूप दे दिया । तब से इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया । इसके बाद सन् १७७४ में आवा के राज शिन बूशिन ने इसकी ऊँचाई ३२६ फुट तक करवा दी ।

यह पगोडा एक विशाल ऊँची वेदी पर बना है, जिसका घेरा डेढ़ हजार फुट के क़रीब है। इस घेरे में छोटे-छोटे ६४ पगोडा और हैं, और इन पगोडों के मध्य में चारों ओर एक-एक बड़ा पगोडा विराजमान है । इस पगोडा के भीतर रखी हुई महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ अधिकतर काँसे की हैं । इसमें दो बड़े-बड़े घंटे भी हैं । इनमें से एक घंटा चालीस टन वज़न का है और

साढ़े आठ फुट ऊँचा है। यह घंटा सन् १८४१ में राजा थारा-बदी ने इस पगोडा को भेंट किया था। दूसरा घंटा सोलह टन वजन का और सात फुट ऊँचा है, और यह राजा शिन बूशिन के पुत्र मिगू मिन ने सन् १७७८ में भेंट किया था।

सुले पगोडा

रंगून ही में दूसरा बड़ा पगोडा सुले है। यह शहर के ठीक मध्य में है। यह पगोडा भी २२५० वर्ष प्राचीन है और श्वेडेगों की भाँति महात्मा बुद्ध के भारत से लाये गये अवशेषों की स्मृति को अमर करने के लिए बनाया गया। यह पगोडा १५७ फुट ऊँचा है।

काबा-ए पगोडा

यह पगोडा आधुनिक है। सन् १९५२ में विश्व शांति के महान् आदर्श को मूर्त रूप देने के लिए स्वतन्त्र बर्मा ने इसका निर्माण कराया था। यह सुले पगोडा से सात मील की दूरी पर उत्तर में है। प्रतिदिन चार पाँच सौ तक लोग इस पगोडा में दर्शन करने आते हैं। यह ११८ फुट ऊँचा है और इसकी वेदी का घेरा भी ११८ फुट है। भारतवर्ष में ११८ का अंक किसी के प्रति पूजा-भाव को व्यक्त करने के लिए प्रयोग में आता है। महात्माओं और संन्यासियों के नाम के पहले अक्सर ११८ का अंक प्रयोग किया जाता है। बर्मा में भी ११८ का अंक पवित्र माना जाता है। आधुनिक पगोडा की ऊँचाई और उसकी वेदी का घेरा दोनों ११८ फुट उसी पवित्रता की भावना से रखे गये हैं।

इसी पगोडा में सन् १९५४ में छठी बौद्ध महासभा का अधिवेशन किया गया था, जहाँ एकत्रित होनेवाले बौद्ध विद्वानों

ने निरन्तर दो साल तक बौद्ध धर्म का गम्भीर अध्ययन करने का संकल्प किया था। इसी पगोडा को केन्द्र मानकर एक महान् बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना का निश्चय भी आधुनिक बर्मा सरकार ने किया है।

आनन्द पगोडा

ऊपर जिन तीन पगोडों का वर्णन किया गया है वे बर्मा की राजधानी रंगून में हैं, पर आनन्द पगोडा बर्मा की प्राचीन नगरी पगान में अवस्थित है। पगान को चालीस लाख पगोडों का शहर कहा जाता है। यद्यपि पगोडों की यह भारी संख्या अब वहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती, पर इस बात की सत्यता के प्रमाण उनके खंडहर अब तक मौजूद हैं। पगान में पगोडों का निर्माण ईसवी सन् १०८ से आरम्भ हुआ और लगातार १२०० वर्ष तक जारी रहा। इनमें अधिकांश पगोडों का निर्माण सन् १०५७ से १२८४ के बीच में हुआ, जब कि वहाँ पगान राजवंश का शासन था। उसके बाद मंगोल आक्रान्ता कुबलई खाँ के आक्रमणों से वे पगोडा नष्ट-भ्रष्ट हो गये। जो पगोडा नष्ट होने से बच गये उनकी पूरी हिफ़ाजत की गयी और अब तक उनकी मरम्मत पर काफ़ी खर्च किया जाता है। इस प्रकार के सुरक्षित पगोडों में आनन्द पगोडा का स्थान सबसे ऊँचा है। इसे सन् १०९१ में वहाँ के राजा क्यान्सिथ ने बनवाया था।

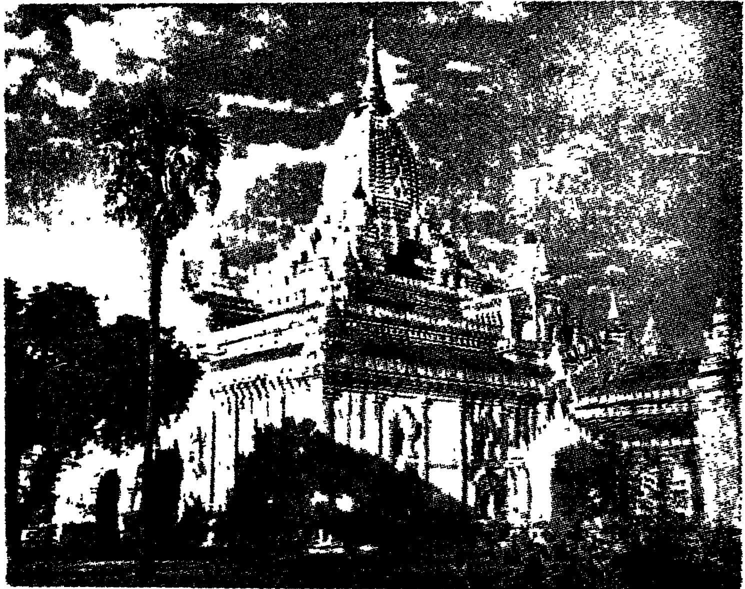
इस पगोडा के समीप ही एक कला-संग्रहालय भी है। इस संग्रहालय में पगान की प्राचीन संस्कृति और कला की सुन्दर झाँकी देखी जा सकती है। यहाँ की प्राचीन संस्कृति और कला पर भारत की प्राचीन जैन कला और चीनी कला, दोनों की स्पष्ट छाप है।

शीज़ीगान पगोडा

प्राचीन नगरी पगान के खंडहरों से ५ मील की दूरी पर न्यांग-ऊ नाम का आधुनिक शहर है। इसी शहर के समीप प्राचीन शीज़ीगान नाम का पगोडा है। इस पगोडा को राजा अन-अहृत ने, जिसका काल सन् १०४४ से १०७७ तक माना जाता है, बनवाया था। यह पगोडा रंगून के श्वेजगान पगोडा से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। इस पगोडा के भीतर महात्मा बुद्ध के एक दाँत की समाधि है। हर साल एक भारी मेला यहाँ लगता है और देश-भर के बौद्ध बड़े भक्ति-भाव से उस मेले में शामिल होते हैं।

तव्यू नू पगोडा

यह पगोडा भी पगान में है। महात्मा बुद्ध की त्रिकाल-



पगान का तव्यू न्यू पगोडा

दर्शिता का यह पगोडा स्मारक है। यह दो सौ फुट ऊँचा है और पाँच मंजिलों में बना है। पहली व दूसरी में बौद्ध भिक्षु निवास करते हैं, तीसरी मंजिल पर महात्मा बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है, चौथी मंजिल में पुस्तकालय है और पाँचवीं में महात्मा बुद्ध के अवशेष रखे हैं। बर्मा के दूर-दूर के स्थानों से प्रतिदिन सैकड़ों यात्री इस पगोड़ा में प्रतिष्ठित महात्मा बुद्ध की मूर्ति की पूजा करने आते हैं।



महात्मा बुद्ध की मूर्ति की पूजा करते हुए बर्मी लोग

नामबोधि पगोडा

यह पगोडा १३ वीं शताब्दी के मध्य में बनवाया गया था, और भारत में बौद्ध-गया के मन्दिर से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

शीवन्दाव पगोडा

इस पगोडा को सन् १०५७ में राजा अनव्रहत ने बनवाया था। इसके भीतर भी महात्मा बुद्ध के कुछ अवशेषों की समाधि है। इस पगोडा की एक अद्भुत विशेषता यह है कि इसके चारों

कोनों पर हिन्दुओं के तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश संरक्षक रूप में प्रतिष्ठित हैं।

श्वेताल्यों पगोडा

रंगून से पचीस मील की दूरी पर, पेगू की प्राचीन नगरी के समीप, श्वेताल्यों पगोडा में एक अत्यन्त विशाल और भव्य मूर्ति महात्मा बुद्ध की प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति की विशेषता यह है कि पूरे मनुष्य के आकार की यह मूर्ति संसार में सबसे बड़ी है। इसकी लंबाई एक सौ अस्सी फुट और चौड़ाई पचास फुट है।

पगोडों का बर्मा में एक विशेष स्थान है। उस देश के धर्म और संस्कृति के ये केन्द्र हैं।

६. बर्मा के शहर व बन्दरगाह

भारतवर्ष की तरह बर्मा भी गाँवों का देश है। इसमें पचास हजार गाँव हैं। बर्मा की कुल जनसंख्या का ८५ प्रतिशत अर्थात् एक करोड़ पैंतालिस लाख लोग इन गाँवों में बसते हैं। शहरों की संख्या कुल मिलाकर २७६ है; उनमें भी ऐसे शहर जिनकी आबादी एक लाख से ऊपर हो, कुल तीन हैं। कुल ६० शहर ऐसे हैं जहाँ नगरपालिकाएँ हैं।

बर्मा देश का अधिकांश हिस्सा खेतों और जंगलों से घिरा है, वहाँ आबादी बड़ी विरल है। प्रस्तुत अध्याय में बर्मा के बड़े-बड़े शहरों का वर्णन किया जायेगा :

रंगून

रंगून बर्मा की राजधानी है। समुद्र-तट से बीस मील की दूरी पर, रंगून नदी के तट पर यह शहर बसा है। यह बम्बई और कलकत्ता की भाँति बर्मा का एक बड़ा बन्दरगाह है। बर्मा के कुल आयात और निर्यात का ८६ प्रतिशत व्यापार इसी बन्दरगाह से होता है।

रंगून पूर्वी एशिया के तमाम शहरों में अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसकी सड़कें व बाजार पक्के, सुन्दर और एक जैसे हैं और समान दूरी पर एक-दूसरे से आकर मिलते हैं। अमरीका की तरह, रंगून की सड़कों व बाजारों का नामकरण

नम्बरों द्वारा किया गया है। इसे बसाने में व्यवस्था, कला और सौन्दर्य का पूरा ध्यान रखा गया है। इसके ठीक मध्य में सुले पगोडा है। संसार का सबसे बड़ा पगोडा श्वेडेगों भी यहीं है।

इस शहर को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल बर्मा की राजधानी है। यहाँ हिन्दू, सिख, ईसाई, मुसलमान, चीनी और बर्मी सभी की एक-सी प्रधानता है; सबके अपने-अपने मन्दिर व पूजाघर हैं। सभी को धार्मिक स्वतन्त्रता है।

रंगून शहर की कुल जनसंख्या ७,३७,०७९ है। इनमें विविध देशवासियों की संख्या निम्न प्रकार है :

बर्मी—४,६१,८०१

भारतीय व पाकिस्तानी—१,४०,३९६

चीनी—७०,०००

करेन—९,०४९

शान, शिन व कशिन—२,१९४

अन्य विविध जातियाँ (बर्मी)—४९,६८२

यूरोप व अमरीका के लोग—१,७८५

सन् १९४२ से पूर्व रंगून में सबसे अधिक संख्या भारतीयों की थी। खेती-बारी, व्यापार और नौकरियों में सब जगह उन्हीं की प्रधानता थी। पर जापानी आक्रमण के समय, १९४२ में, लाखों भारतीयों को बर्मा छोड़ना पड़ा। रंगून से भी भारतीयों की बड़ी संख्या निकल गयी।

रंगून का जलवायु न अधिक गरम है न अधिक सर्द। रंगून को यदि हँसती लड़कियों का शहर कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। फूलों और वस्त्रों की शौकीन बर्मी स्त्रियों से रंगून सदा चहचहाता रहता है। बाज़ारों में स्त्रियाँ ही दूकानें चलाती हैं,

अनेक होटलों की मालकिनें भी स्त्रियाँ हैं। पगोडों में महात्मा बुद्ध की मूर्ति के आगे भक्ति-भाव से पुष्पाञ्जलि अर्पित करती हुई सुन्दर बर्मी स्त्रियाँ रंगून का शृंगार हैं।

रंगून हर तरह से एक अत्यन्त दर्शनीय शहर है।

रंगून को सबसे प्रथम, सन् १३५५ में राजा अलङ्गपाया ने बसाया था। सन् १८५८ के पहले तक रंगून एक बड़ा मामूली शहर रहा। उसके बाद अंग्रेज़ों ने इसे बिल्कुल नये ढंग से बसाया: इसके वर्तमान सुन्दर रूप का श्रेय उन्हीं को है। भारत की राजधानी नयी दिल्ली की तरह बर्मा की राजधानी रंगून भी सदैव अंग्रेज़ों की सुरुचि और कलाप्रियता की याद दिलाता रहेगा।

मांडले

रंगून यदि बर्मा की राजधानी है तो मांडले बर्मा का सांस्कृतिक केन्द्र है। शहर से कुछ दूरी पर, चारों ओर पगोडों और बौद्ध विहारों का एक जाल-सा बिछा है। लकड़ी के ऊपर नक्काशी का सुन्दर काम बर्मा की एक विशेष कला है, और उसकी पूरी झलक मांडले के बौद्ध विहारों में देखी जा सकती है।

मांडले की कुल आबादी १,८२,३६७ है। इसमें ८० प्रतिशत बौद्ध हैं। वास्तव में, यदि बौद्ध सभ्यता और शिष्टाचार को अपने पूर्ण रूप में देखना हो तो मांडले को अवश्य देखना चाहिए। यों भी, रंगून के बाद यह बर्मा का सबसे बड़ा शहर है। रंगून से रेलगाड़ी में यहाँ जा सकते हैं।

मांडले ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। बर्मा के अन्तिम सम्राट् थी बा की यह राजधानी थी, और इस ऐतिहासिक तथ्य के कारण बर्मी लोगों की इस नगर के प्रति एक विशेष

आदर-भावना है।

पहले-पहल इस नगर को सन् १८५७ में राजा मिंडोन ने बसाया था, इसी से इस का नाम मांडले पड़ा। इसी नगर में इरावती नदी पर सबसे बड़ा पुल आवा नामक है। यह पुल लाखों रुपये की लागत से सन् १९३८ में बनाया गया था। यह एक मील लम्बा है। सन् १९४२ में, जापानी आक्रमण के सामने पलायन करती हुई ब्रिटिश फ़ौजों ने इस पुल को तोड़-फोड़ दिया था। अब बर्मा की स्वतन्त्र सरकार ने सन् १९५४ में इसकी मरम्मत करके इसे फिर से चालू कर दिया है।

रंगून दक्षिणी बर्मा का सब से बड़ा शहर है तो मांडले उत्तरी बर्मा का। मांडले बर्मा के कुछ उत्तर में है, इसके बाद पहाड़ी इलाका शुरू हो जाता है। इसका जलवायु रंगून की अपेक्षा अधिक गर्म और अधिक सर्द है।

मोलमीन

प्रचण्ड वेग से बहनेवाली सालवीन नदी के किनारे पर बसा हुआ मोलमीन शहर अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण अत्यन्त रमणीय है।

मोलमीन बर्मा का चौथे नम्बर का बड़ा बन्दरगाह है। आसपास के इलाके का चावल इसी बन्दरगाह से बाहर जाता है। सालवीन नदी में बहकर आनेवाली इमारती लकड़ी भी इसी बन्दरगाह से बाहर भेजी जाती है।

मोलमीन की आबादी १,०१,७२० है। शिक्षा की दृष्टि से यह एक उन्नत शहर है।

मेमियो

मांडले के पूर्व में, शान पहाड़ियों के बीच मेमियो एक अत्यन्त

रमणीक, रंग-बिरंगे फूलों का पहाड़ी स्थान है। ब्रिटिश काल में यह बर्मा की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी था। इसका जलवायु अत्यन्त स्वास्थ्यवर्धक माना जाता है। मांडले से मेमियो जाते समय बल खाती हुई सड़कें और रेलवे लाइनें मन में अपूर्व उत्कण्ठा जागृत करती हैं।

मेमियो से कुछ ऊपर वह प्रसिद्ध रेलवे लाइन है जो गॉक-टेक दर्रे के ऊपर बनायी गयी है। इस पर करीब बीस लाख रुपया खर्च आया है और सवा चार हज़ार टन लोहा खर्च हुआ है।

कलो

कलो भी मेमियो की तरह शान पहाड़ियों के बीच एक रमणीक पहाड़ी स्थान है। यह अपने चारों ओर के शान्त वातावरण और एकान्त के लिए प्रसिद्ध है। इसके पास ही टांजी नामक दूसरा पहाड़ी स्थान है, जहाँ की इनल झील को देखने के लिए दूर-दूर से यात्री आते हैं।

बसीन

रंगून के बाद बर्मा का सबसे बड़ा बन्दरगाह बसीन है। यह चावल के व्यापार का बर्मा में सबसे बड़ा केन्द्र है। यह शहर बसीन नदी के किनारे पर बसा है, जो इरावती नदी ही की एक धारा है।

अकयाब

यह बर्मा का तीसरे नम्बर का बन्दरगाह है। अराकान का सारा चावल इसी बन्दरगाह से होकर बाहर जाता है। अराकान देश के दूसरे भागों से कटा हुआ है क्योंकि दोनों के बीच में बड़े-बड़े जंगल और ऊँचे पहाड़ आ जाते हैं।

पगान

पगान बर्मी इतिहास के स्वर्णिम युग की याद दिलाता है। यह मांडले से १२० मील दक्षिण की ओर इरावती नदी के पूर्वी तट पर बसा हुआ है।

इसे चालीस लाख पगोडों का नगर भी कहते हैं। यह सोलह वर्ग मील के घेरे में बसा है। आज भी यहाँ हजारों पगोडा व अन्य धार्मिक स्थान हैं। एशिया के इस भाग में कोई भी दूसरा स्थान इतना ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखता जितना कि पगान। यह संसार का आठवाँ आश्चर्य माना जाता है और संसार के सब भागों से यात्री इसे देखने आते हैं।

पुराना शहर आजकल खंडहरों की शकल में है। इसे देखने के लिए आनेवाले यात्री पहले न्यांग-ऊ नामक शहर में उतरते हैं जो प्राचीन पगान शहर से ५ मील की दूरी पर है।

पगान सन् १०४४ से १२८७, करीब २५ वर्षों तक, पगान राजवंश की राजधानी रहा। यह काल कला, संस्कृति और आर्थिक सभी दृष्टियों से बर्मा का स्वर्णिम युग माना जाता है। यहीं से सन् ११०३ में, जब कि यहाँ पर क्यानसिथ का राज्य था, बर्मा का एक सांस्कृतिक शिष्टमंडल चीन भेजा गया था।

बर्मा की यात्रा करनेवाला कोई भी व्यक्ति पगान का दर्शन किये बिना अपनी यात्रा को पूर्ण नहीं कह सकता।

७. संस्कृति, कला और गृह-उद्योग

स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद बर्मा ने जिस ओर सबसे अधिक ध्यान दिया वह है देश की सांस्कृतिक उन्नति। संस्कृति के उचित विकास के लिए अप्रैल, १९५२ में एक अलग संस्कृति-मंत्रालय स्थापित किया गया। इस मंत्रालय की देख-रेख में सन् १९५२ के अन्त में एक विशेष सांस्कृतिक संस्था का संगठन किया गया। आज इस संस्था के अधीन एक राष्ट्रीय पुस्तकालय, राष्ट्रीय संग्रहालय, राष्ट्रीय कला-भवन, तथा संगीत, नाटक व नृत्य-परिषदें अपना-अपना काम सुचारु रूप से कर रही हैं



अराकान की एक भद्र महिला



हाकाशिन दम्पति

इसी संस्था के अधीन ऐसा साहित्य भी प्रकाशित किया जाता है जो बर्मी कला व संस्कृति का प्रतिनिधि हो। संगीत, नाटक व नृत्य के सुन्दर पोग्राम भी इस संस्था के द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं।

बर्मा की संस्कृति व कला पर चीन और भारत दोनो देशों का प्रभाव है; उनमें भी भारत का प्रभाव अधिक है। यहाँ की लिपि जो पहले-पहल ११वीं शताब्दी में निश्चित और अन्तिम रूप से सारे देश के लिए अपनायी गयी, पल्लव लिपि कहलाती है और वह भारतवर्ष की ब्राह्मी वर्णमाला ही का रूप है।

भारत और चीन के अतिरिक्त बर्मा की कला और संस्कृति पर निम्नलिखित प्रभाव भी स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं :

प्यू

बर्मा के मूल निवासी प्यू जाति के थे। किसी समय बर्मा पर इनका पूरा प्रभुत्त्व था। सन् ६७३ से ७१८ तक के इनके

शिलालेख आज भी प्रोम और श्वेबो में उपलब्ध होते हैं। बर्मी संवत् मार्च ६३८ ईसवी सन् से शुरू होता है और यह माना जाता है कि इस संवत् का आरम्भ प्यू जाति के राजाओं ही ने किया।

मोन

स्याम के दक्षिण में मोन जाति के द्वारावती साम्राज्य का सन् ८३५ में केन्द्र था। पर मोन जाति के बहुत से लोग बर्मा के ननासरिम प्रदेश और इरावती के किनारों पर भी बसे थे।

मोन जाति के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का विश्वास है कि वह भारत ही की एक शाखा थी। मनु की सन्तान होने से वे अपने आपको मोन कहते थे।



मोन जाति की महिला

कंबोडिया का खमेर साम्राज्य भी मोन जाति का था। वहाँ का अंगकोर वट तथा अन्य प्राचीन स्मारक मोन लोगों के सांस्कृतिक विकास का परिचय देने को काफ़ी हैं। बर्मा की वर्तमान संस्कृति और

कला पर प्राचीन मोन जाति का ज़बर्दस्त प्रभाव है।

अनमस या बर्मन्स

तीसरी प्राचीन जाति जिसका बर्मा की संस्कृति पर स्पष्ट प्रभाव है, अनमस या बर्मन्स हैं। अनमस ही से बिगड़कर बर्मन शब्द बना और उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम बर्मा पड़ गया।

उपरोक्त प्यू, मोन और बर्मन जातियों के आपस में अनेक संघर्ष हुए और वे एक-दूसरे की संस्कृति को चिर काल से प्रभावित करते रहे। किसी समय एक जाति का और किसी समय दूसरी जाति का प्रभुत्व बर्मा पर रहा। पर बर्मा के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन करते हुए इतनी बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि इन तीनों जातियों की संस्कृतियों का एक-दूसरे से भेद बहुत अधिक नहीं था। इन तीनों ही जातियों की संस्कृति का आदि स्रोत भारतीय संस्कृति को ही माना जाता है।



कशिन दम्पति

शान

प्यू, मोन और बर्मन जातियाँ बाद में चलकर एक हो गयीं और उनका नाम बर्मन पड़ गया। इन बर्मन जातियों का संघर्ष बाद में शान जातियों से हुआ। शान संस्कृति सर्वथा भिन्न थी। शान जातियों में मुख्यतया शान, केरन और कचिन जातियाँ शामिल थीं। जिस प्रकार प्रथम तीन जातियों का मिलाकर नाम बर्मन जाति पड़ गया, उसी प्रकार शान जाति की प्रधानता के कारण शान, केरन और कचिन जातियों का मिलाकर नाम शान जाति पड़ गया। बर्मन और शान जातियों को गंगा और यमुना की उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार अनेक छोटी-छोटी धाराओं को अपने में समेटती हुई ये दोनो भारत की महानदियाँ बहुत दूर तक स्वतन्त्र रूप से बहती हैं और फिर प्रयाग में मिलकर एक हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार बर्मन और शान संस्कृतियाँ भी



फलामशिन दम्पति


पडाँग दम्पति

अनेक संस्कृतियों को अपने में समेटती हुई बहुत दूर तक स्वतन्त्र रूप से बर्मा के जन-जीवन का सिंचन करती हैं और अन्त में मिलकर एक हो जाती हैं।

संक्षेप में, बर्मा की आधुनिक संस्कृति में चार तत्व विद्यमान हैं : (१) भारतीय संस्कृति, (२) चीनी संस्कृति, (३) बर्मन संस्कृति और (४) शान संस्कृति।

पगान राजवंश

बर्मा की विभिन्न संस्कृतियों को एक सूत्र में पिरोकर बर्मा में एक देश की भावना को जगाने का श्रेय पगान राजवंश के राजा अनब्रहत को है। इसी राजा ने ११वीं शताब्दी में एक लिपि, एक धर्म, एक देश और एक जाति का नारा बुलन्द किया। उसके काल को बर्मा का स्वर्णिम काल माना जाता है।

राजा अनब्रहत के काल में जिस कला का सबसे अधिक विकास हुआ वह भवन-निर्माण-कला थी। पर चित्रकला, संगीत

और अन्य कलाओं की भी उपेक्षा नहीं की गयी। इस युग में संस्कृति और कला का जितना विकास हुआ उसमें धार्मिक भावना की प्रधानता रही। भवन - निर्माण कला का तो विकास ही मात्र पगोडों के माध्यम से हुआ। चित्रकला में भी, महात्मा बुद्ध और उनके जीवन-वृत्तों ही का अधिकतर चित्रण हुआ।



शान राज्य का एक परिवार

सङ्गीत

अपने स्वर्णिम युग के मध्याह्न में पगान में संगीत की भी काफ़ी उन्नति हुई। उन दिनों पगान का भारत के साथ सीधा सम्बन्ध था और भारतीय संगीत, जिसका आधार सरगम का सप्तक है, पगान में प्रचलित हो गया था। पगान में उन दिनों संगीत का प्रयोग केवल विशेष अवसरों ही पर नहीं होता था बल्कि दैनिक प्रार्थनाओं में भी होता था। बर्मा में प्रयुक्त होने-वाले अधिकांश साज भी भारतीय हैं अथवा भारतीय साजों से

काफी मिलते-जुलते हैं।

नृत्य व अभिनय-कला

अभिनय-कला का श्रीगणेश बर्मा में भारत ही से हुआ। शुरू-शुरू में वहाँ बहुत काल तक रामायण और बौद्ध कथाओं के अभिनय तक ही अभिनय और नृत्य-कला सीमित रही। बाद में जाकर स्वतन्त्र रूप से नाटक लिखे जाने लगे; मलाया और इंडोनेशिया के नाटकों का भी प्रभाव पड़ा। रंगमंच के निर्माण और उसकी सजावट में ईरान का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होता है।



करेन जाति के बालक-बालिका

बर्मी नृत्य-कला के साथ चलनेवाला संघ-वाद्य (Orchestra) जावा और बाली के संघ-वाद्य से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। बर्मा की नृत्य-कला को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :

१. जात प्यू—ऐसे नाटकों को बर्मा में जात कहते हैं,

जिनका आधार महात्मा बुद्ध की जीवन-कथाएँ अथवा रामायण की कथाएँ हों। प्यू बर्मी भाषा में नाटक को कहते हैं। 'ज़ात प्यू' में जीवन के विविध मनोवेगों और भावनाओं का चित्रण होता है। प्राय: ज़ात प्यू नाटकों का अन्त दुःखान्त होता है। ये काफ़ी लम्बे होते हैं। कभी-कभी तो पूरी रात-भर एक ज़ात प्यू चलता है।

२. **एनीन प्यू**—यह एक प्रकार का संगीत-नृत्य होता है। इसमें प्राय: कथानक नहीं होता। जनता का मनोरञ्जन सुन्दर नर्तकियाँ करती हैं, या बीच-बीच में विदूषक। एनीन प्यू में बर्मी भाषा बड़ी मधुर प्रतीत होती है। इसमें नृत्य करने वाली लड़कियों को मिन्थामीज़ कहा जाता है, और उनका नृत्य अत्यन्त मनमोहक होता है।

३. **यीन प्यू**—गुजरात के गरबा नृत्य की भाँति 'यीन प्यू' एक सामूहिक नृत्य है। यह नृत्य बर्मी जीवन के उल्लास, रोमांस और आनन्दी स्वभाव का परिचायक है।

४. **योक्थी प्यू**—इसमें नाना प्रकार का अद्भुत वेश-विन्यास प्रधान रहता है। अभिनेता लोग जानवरों के चेहरे भी लगा लेते हैं। योक्थी प्यू में आमतौर पर छोटी-छोटी कथाएँ रहती हैं। पर कभी-कभी ज़ात की तरह रामायण या महात्मा बुद्ध की लम्बी कथाएँ भी रहती हैं। योक्थी प्यू की मुख्य विशेषता नकली चेहरे लगाना है।

मूर्तिकला

१२वीं शताब्दी के अन्त तक बर्मा की मूर्तिकला पर भारत का पूरा प्रभाव रहा। उस समय तक पत्थर और काँसे आदि की मूर्तियाँ महात्मा बुद्ध ही की बनती रहीं, उसके बाद बर्मा के कलाकारों ने मूर्तिकला में धीरे-धीरे अपनी विशिष्ट रुचि व

मौलिकता का परिचय देना शुरू किया। अब तो भारत और बर्मा में बनने वाली महात्मा बुद्ध की मूर्तियों में आपस में बड़ा अन्तर रहता है। कला कोई हो, मनुष्य की भीतरी रुचि का वह बाहरी प्रकाशन है। बर्मी लोगों की रुचि, चीनी व दूसरे प्रभावों के कारण भारत से सर्वथा भिन्न हो गयी। अतः स्वाभाविक था कि उनकी कला भी एक न एक दिन अपना स्वतन्त्र और भिन्न मोड़ ले लेती।

चित्रकला

मूर्तिकला की तरह चित्रकला पर भी १२वीं शताब्दी के अन्त तक पूरा भारतीय प्रभाव बना रहा। पर उसके बाद उसने अपना एक स्वतन्त्र रूप ले लिया; और अब तो बर्मा में चित्रकला बड़ी उन्नत अवस्था तक पहुँच चुकी है।

बर्मा की प्राचीन चित्रकला, वहाँ की मूर्तिकला की तरह, महात्मा बुद्ध के जीवन-वृत्तों को चित्रित करने तक ही सीमित रही। उसकी झाँकी आज भी पगान के पगोडों की दीवारों पर देखी जा सकती है।

बर्मा के गृह-उद्योग

बुनाई—पगान वंश के राज्य-काल में अनेक बुनकर भारत से बर्मा गये और उन्होंने वहाँ की बुनाई के तरीकों में अनेक सुधार किये। बाद में, मणिपुर (आसाम) से भी अनेक बुनकर बर्मा गये और उन्होंने वहाँ अनेक नवीन और कलापूर्ण नमूने प्रचलित कर दिये।

आधुनिक काल में, जापान के नवीनतम तरीकों को अपनाकर बर्मा ने इस दिशा में काफ़ी उन्नति की है। पश्चिमी देशों द्वारा की गयी खोजों का भी बर्मा ने पूरा लाभ उठाया है। स्याम

में रेशमी सूतों को आपस में गूँथकर एक नवीन कलापूर्ण ढंग से बुनाई करने का चलन है; बर्मा ने उनका भी बड़ी सफलता से अनुकरण किया है।

आज तो बर्मा के बुनकर न केवल बर्मा की शान हैं बल्कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि में भी उनका बड़ा हाथ है।

हाथ की कारीगरी—जापान की तरह बर्मा में भी हाथ की कारीगरी एक महत्वपूर्ण गृह-उद्योग है। सोने और चाँदी की पच्चीकारी के लिए बर्मा के कारीगर सारे एशिया में प्रसिद्ध हैं। जैसी सुन्दर और मजबूत इमारती लकड़ी बर्मा में पायी जाती है वैसी संसार के कम देशों में पायी जाती है। इसका एक परिणाम यह है कि बर्मा में फर्निचर बनाने का उद्योग भी बड़ी उन्नति पर है।

हीरे-जवाहरात की सुन्दर कटाई के लिए तो बर्मा सारे संसार में प्रसिद्ध है ही। ११वीं शताब्दी तक बर्मा से हीरे व जवाहरात बहुतायत से चीन में जाते रहे।

हाथ की कारीगरी को बर्मा में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। बर्मा के लोग जितना सम्मान हाथ के कारीगर का करते हैं उतना सम्मान बहुत कम देशों के लोग करते हैं।

लकड़ी और हाथीदाँत पर खुदाई का काम भी बर्मा में बड़ी उन्नति पर है। हाथीदाँत पर खुदाई के काम के लिए मोलमीन एक बहुत बड़ा केन्द्र है।

चाँदी पर हाथ का काम बर्मा में सबसे अधिक जोरों पर है। मेष, वृष आदि हिन्दुओं की बारह राशियों के चित्र सुन्दर ढंग से चाँदी पर खुदे हुए बर्मा में आम बिकते हैं।

बर्मा में चाँदी व लकड़ी की खुदाई की कला पर स्याम का

बड़ा प्रभाव है।

राष्ट्रीय संग्रहालय

बर्मा के राष्ट्रीय संग्राहालय को देखे बिना, जो रंगून में स्थित है, बर्मा के कला-कौशल का परिचय अधूरा रहेगा। इस संग्रहालय में अमरपुर का सिंहासन, मिंडोन की रानी की शाही कुरसी, मगरमच्छ के चमड़े से बनी सारंगी, १२ वीं शताब्दी के शुरू के शिलालेख और आंगसान का कोट—ये दर्शनीय वस्तुएँ हैं।

अमरपुर का सिंहासन—यह सिंहासन सागवान की लकड़ी पर खुदाई का एक सुन्दर नमूना है। क़रीब १०० वर्ष पुराना यह सिंहासन मांडले के संस्थापक राजा मिंडोन का है। यह १० फुट ऊँचा है।

शिलालेख—१२वीं शताब्दी के शुरू के शिलालेख जो मिज़दी शिलालेख कहलाते हैं, बर्मा के प्राचीन इतिहास पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। इन शिलालेखों से पगान राजवंश का विस्तृत परिचय मिलता है और साथ ही बर्मा के मूल निवासियों—प्यू जाति—की भाषा का भी। ये शिलालेख ११वीं शताब्दी के अन्त तक के बर्मा के धार्मिक व सामाजिक जीवन पर भी गहरा प्रकाश डालनेवाले हैं।

राष्ट्रीय ध्वज और राजकीय चिह्न

बर्मा का राष्ट्रीय ध्वज बर्मा की सांस्कृतिक भावनाओं का जीता-जागता प्रतीक है। बर्मी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है एकता। भारतवर्ष की तरह बर्मा में भाषा, लिपि, धर्म और प्रान्तीयता का झगड़ा नाममात्र को नहीं है। वहाँ सारे देश की लिपि एक है। बोलचाल की भाषा भी ७५ फ़ीसदी लोगों की एक-सी है। धार्मिक दृष्टि से ८० प्रतिशत लोग बौद्ध हैं। प्रान्तीयता का तो कहीं नाम नहीं। बर्मा का प्रत्येक निवासी बर्मा को एक जैसा प्यार करता है। एकता की इस भावना को जगाने का बहुत बड़ा श्रेय

निस्सन्देह बर्मी नेताओं की प्रतिभा को दिया जाना चाहिए।

बर्मा का राष्ट्रीय ध्वज लाल रंग का है और उस पर गहरे नीले रंग की धारियाँ हैं। इन धारियों के बीच में सफेद रंग का एक बड़ा सितारा रहता है जिसके पाँच कोने होते हैं। पाँचों कोनों पर पाँच छोटे-छोटे सितारे और रहते हैं।

राष्ट्रीय ध्वज का लाल रंग साहस और संकल्प की सूचना देने के लिए है। बड़ा सितारा उन्नति का सूचक है। सितारों का सफेद रंग सच्चाई और पवित्रता का सूचक है। नीली धारियाँ प्रेम और शान्ति के चिन्ह हैं।

छोटे-छोटे सितारों की संख्या पाँच क्यों है? इसमें भी एक रहस्य है। स्वतन्त्र बर्मा का आधुनिक रूप पाँच विभिन्न जातियों के मेल से बना है; उन पाँचों जातियों ने देश की उन्नति को अपना सम्मिलित धर्म माना है। वे जातियाँ हैं—बर्मन, शान, केरन, कचिन और चिन। पाँच छोटे सितारे इन्हीं पाँच जातियों के प्रतिनिधि हैं। वे एक बड़े सितारे के चारों ओर उसके पाँचों कोनों में खड़े मानो इस बात की घोषणा करते हैं कि देश की उन्नति में उनका बराबर का दावा है।

राजकीय चिन्ह

बर्मा का राजकीय चिन्ह देश की प्राचीन व आधुनिक भावनाओं का एक साथ परिचय देता है। इस चिन्ह के ठीक मध्य में एक गोला खिंचा है, उसमें लिखा है—एकता ही सुख और सम्पत्ति की जननी है। इसी गोले के भीतर बर्मा का नक्शा है। राजकीय चिन्ह में, सबसे ऊपर की ओर एक शेर है तथा नीचे की ओर दायें व बायें दो शेर हैं। शेरों की इस त्रिमूर्ति के पीछे बर्मा की अपनी कुछ प्राचीन सांस्कृतिक भावनाएँ हैं।

८. शिक्षा

अंग्रेज़ों के बर्मा में पदार्पण करने से पहले अर्थात् सन् १८२६ तक बर्मा की शिक्षा-प्रणाली गुरुकुलों की-सी रही है। बर्मा के प्रत्येक गाँव और कस्बे में आज भी बौद्ध मठ विद्यमान हैं। इन्हें बर्मी भाषा में चाँव कहते हैं। इन चाँवों के अध्यक्ष फुंजी कहलाते हैं। फुंजी एक प्रकार से गाँव-भर के धर्मगुरु होते हैं और बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

सन् १८२६ से पहले तक हालत यह थी कि बड़े-बड़े राजाओं के लड़कों की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा इन्हीं चाँवों में होती थी और उन्हें निर्धन बालकों के साथ कुछ समय तक फुंजियों के शिष्य रूप में अवश्य रहना पड़ता था।

६-७ वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर प्रत्येक बालक को आवश्यक रूप से चाँव भेज दिया जाता था। और वहाँ उसे कुछ महीने रहना पड़ता था। इस अरसे में उसे पढ़ना-लिखना और प्रारम्भिक गिनती व हिसाब सिखाया जाता था। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्त समझाकर उसे धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी।

चाँव प्रथा का एक लाभकारी परिणाम यह हुआ कि देश में निरक्षरता बहुत कम रह गयी, साधारण पढ़ना-लिखना और प्रारम्भिक गणित सब किसी को सुलभ हो गया। आज बर्मा में ६० प्रतिशत लोग साक्षर हैं, और भारत व एशिया के दूसरे देशों

की दशा को देखते हुए बर्मा को इस पर अभिमान है।

ब्रिटिश काल में शिक्षा

अंग्रेजों ने आते ही शिक्षा-पद्धति को एकदम बदल डाला। उन्होंने तीन प्रकार के स्कूल खोले—(१) बर्मी भाषा के स्कूल, (२) ऐंग्लो-बर्मी स्कूल और (३) अंग्रेजी स्कूल। इसका फल यह निकला कि शिक्षा में विषमता आ गयी और एक ही देश में शिक्षा की दृष्टि से अलग-अलग वर्ग तैयार होने लगे। लोगों का अपने बच्चों को हाई स्कूल का इम्तिहान पास कराना एक भारी उद्देश्य बन गया ताकि वे सरकारी नौकरी में पैर जमा सकें। अंग्रेज़ी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी और उसके सामने प्राचीन चाँव-प्रथा पिछड़ी-सी प्रतीत होने लगी। प्राविधिक शिक्षा काफी उपेक्षित-सी रही।

स्वतंत्र बर्मा में शिक्षा

बर्मा ने स्वतन्त्र होते ही अपनी शिक्षा-पद्धति में भारी सुधार किये। ब्रिटिश काल की विषमता को एकदम दूर करके सभी स्कूलों में शिक्षा का क्रम एक-सा कर दिया गया अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम हटाकर बर्मी भाषा को बना दिया गया। पर अंग्रेज़ी की पढ़ाई ५वीं कक्षा से आगे सबके लिए आवश्यक कर दी गयी। संक्षेप में बर्मा ने अंग्रेज़ी भाषा की उपयोगिता को ध्यान में रखकर भी बर्मी भाषा के महत्व को कम नहीं होने दिया।

बर्मा में शिक्षा अन्त तक निःश्शुल्क है। इस बात पर भी विचार हो रहा है कि शिक्षा सबके लिए अनिवार्य कर दी जाये। बर्मा में वर्तमान शिक्षा-योजना का आधार जन-कल्याण है।

पाँच आदर्श

सन् १९५२-५३ में बर्मा ने समूचे देश के लिए एक

नवीन शिक्षा-योजना तैयार की। पाँच महान् आदर्श इस योजना के आधार बनाये गये। (१) बर्मा के प्रत्येक निवासी को कम-से-कम लिखना, पढ़ना और साधारण हिसाब-किताब अवश्य आना चाहिए; (२) विविध विषयों के प्राविधिज्ञ कम-से-कम इतने अवश्य तैयार हो जायें कि बर्मा को विदेशों का मुँह न ताकना पड़े; (३) स्त्रियों व पुरुषों को इस ढंग की शिक्षा दी जाये कि वे प्रतिष्ठित व स्वावलम्बी नागरिक बन सकें; (४) शिक्षा चरित्र का गठन करनेवाली हो; उससे जनतंत्र की भावनाओं को बल मिले।

उपरोक्त पाँच आदर्शों का शिक्षा के क्षेत्र में तेज़ी से पालन किया जा रहा है। स्कूलों की संख्या थोड़े ही अरसे में काफी हो गयी है। उचित ढंग के अध्यापक तैयार करने के लिए विशेष स्कूल खोले गये हैं। खेती-बारी, दस्तकारी और उद्योग-धन्धों के नये स्कूल जगह-जगह खोल दिये गये हैं। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ज्ञान और विज्ञान दोनो को मिलाकर चल रही है।

बर्मा में इस समय ८२१२ सरकारी स्कूल हैं, जिनमें शिक्षा मुफ्त दी जाती है। इन स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या ९,११,०६२ है और २२,९६० अध्यापक उनमें पढ़ाते हैं। स्कूलों की उपरोक्त संख्या में ७६४९ स्कूल प्राइमरी हैं, शेष मिडिल या हाई स्कूल।

सरकारी स्कूलों के अतिरिक्त बर्मा में प्राइवेट स्कूल और विविध संस्थाओं द्वारा चलनेवाले स्कूलों की संख्या भी काफ़ी है। उन स्कूलों में बच्चों से बाक़ायदा फ़ीस ली जाती है।

बर्मा में हाई स्कूल तीन प्रकार के हैं। एक वे जहाँ का पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को भविष्य में विद्वान् और विचारक बनने के लिए तैयार करता है; दूसरे वे जहाँ खेती-बारी

की शिक्षा दी जाती है; तीसरे वे स्कूल जिनमें विद्यार्थियों को आधुनिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं व इंजीनियरिंग आदि के लिए तैयार किया जाता है। पहली प्रकार के स्कूलों में प्रत्येक बालक को अनिवार्य रूप से कुछ-न-कुछ दस्तकारी की शिक्षा दी जाती है और बालिका को घर सँभालने की।

रंगून विश्वविद्यालय

इन्या झील के तट पर बसा हुआ रंगून विश्वविद्यालय अपने विस्तार और मनोहारी दृश्य के कारण बर्मा के जीवन में अपना एक विशेष स्थान रखता है।

इस विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १६२१ में की गयी



इन्या झील के तट पर यूनिवर्सिटी कालेज, रंगून

थी। सिवाय कानून के इस विश्वविद्यालय में प्रत्येक शिक्षा निःशुल्क है। अन्य विश्वविद्यालयों की भाँति रंगून विश्वविद्यालय में भी सहशिक्षा का चलन है।

स्वतंत्रता से पहले रंगून विश्वविद्यालय में प्रतिवर्ष १५०० विद्यार्थी दाखिल होते थे, अब वह संख्या बढ़कर

७००० तक पहुँच गयी है।

सामूहिक वयस्क शिक्षा

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद शिक्षा के क्षेत्र में बर्मा ने जो ठोस कदम उठाये हैं उनमें सामूहिक वयस्क शिक्षा का प्रबन्ध भी है। इसके लिए एक अलग वयस्क-शिक्षा-परिषद्द की स्थापना की गयी है। इस परिषद्द के अधीन १२५ केन्द्र देश के विभिन्न भागों में स्थापित हैं। उन केन्द्रों में बड़ी उम्र के लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाया जाता है। इसी परिषद्द के अधीन ऐसे वाचनालय भी बड़े-बड़े गाँवों में खोल दिये गये हैं जिनका उद्देश्य वयस्क शिक्षा केन्द्रों-में पढ़-लिखकर तैयार होनेवाले बड़ी उम्र के लोगों की ज्ञान की भूख को मिटाना है। ये वाचनालय, साथ-ही-साथ, नित नये ज्ञान के लिए तृष्णा भी जगाते हैं।

वयस्क-शिक्षा-परिषद्द की देख-रेख में गाँव के लोगों के लिए उपयोगी व्याख्यान-मालाओं का प्रबन्ध भी किया जाता है। इन व्याख्यान-मालाओं में गाँव के लोगों की आर्थिक समस्याओं, नागरिक अधिकारों तथा सफ़ाई व स्वास्थ्य के नियमों पर विशेष विचार किया जाता है।

वयस्क शिक्षा परिषद्द प्राचीन चाँव-प्रथा को भी हर तरह से प्रोत्साहन देती है। उपयोगी पुस्तकों का बिना मूल्य वितरण भी यह परिषद्द करती है। यद्यपि इस परिषद्द की स्थापना को अभी तक अधिक समय नहीं हुआ, पर विगत थोड़े से समय में जो उपयोगी काम इसने किया है वह अत्यन्त सराहनीय है।

शिक्षा के उपरोक्त प्रबन्ध के अतिरिक्त, बर्मा की सरकार प्रतिवर्ष १०० विद्यार्थियों को ऊँची व प्राविधिक शिक्षा के लिए अमरीका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और भारतवर्ष भेजती है।

९. बर्मा के आर्थिक आधार

बर्मा एक कृषि-प्रधान देश है। इसके तीन-चौथाई लोगों का जीवन कृषि पर निर्भर है। बर्मा के कुल निर्यात व्यापार का तीन-चौथाई भाग भी चावल व दूसरे खेती-बारी से पैदा होनेवाले पदार्थ हैं।

प्राकृतिक सम्पत्ति की तो बर्मा खान है। लाशियो के समीप नायतू की चाँदी और ताँबे की खानें संसार में सबसे बड़ी गिनी जाती हैं। संसार में माणिक्य की सब से बड़ी खानें भी बर्मा में मोगोक में हैं। सागवान की लकड़ी और पेट्रोल का भी बर्मा के आर्थिक विकास में बड़ा हाथ है। यद्यपि बर्मा में अभी आर्थिक विकास की बड़ी भारी गुंजायश है, पर वहाँ ग़रीबी का वैसा तांडव दृष्टिगोचर नहीं होता जैसा भारत व सुदूर-पूर्व एशिया के दूसरे देशों में है। अकाल और भुखमरी वहाँ नाम को नहीं।

चावल

बर्मा में कुल खेती-बारी के योग्य भूमि १,६३,३२,८०० एकड़ है। इस भूमि के ७० प्रतिशत भाग में केवल चावल बोया जाता है।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व बर्मा संसार में सबसे बड़ा चावल निर्यात करने वाला देश माना जाता था। उस समय इसके चावल की उपज ३० लाख टन थी।

बर्मा में खेती योग्य भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है, और कोई भी व्यक्ति ५० एकड़ से अधिक भूमि का मालिक नहीं हो सकता। इसका लाभ यह हुआ है कि पैदावार का सीधा लाभ जोतने और बोनेवाले किसान को होने के कारण उसकी दिलचस्पी भूमि में बढ़ गयी है। किसान अधिक मेहनत करता है और पैदावार में खासी वृद्धि हो गयी है।

जंगल

खेती-बारी के बाद बर्मा का दूसरा आर्थिक आधार जंगल है। बर्मा के क़रीब डेढ़ लाख वर्गमील अर्थात् आधे से अधिक भूभाग को जंगल ने घेर रखा है। संसार में कुल पैदा होनेवाली सागवान की लकड़ी का तीन-चौथाई बर्मा में होता है।

बर्मा से सागवान की लकड़ी की निर्यात बहुत प्राचीन काल से होता आया है। १६वीं शताब्दी में यह निर्यात अरब व्यापारियों के हाथ में था। बर्मा के अंग्रेज़ों के साथ १९वीं शताब्दी में जो तीन युद्ध हुए उनसे इसका निर्यात पूरे तौर पर अंग्रेज़ों के हाथ में आ गया। तीसरे युद्ध का तो कारण ही सागवान का निर्यात व्यापार था।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व बर्मा में सागवान की लकड़ी का कुल वार्षिक उत्पादन ५ लाख २५ हज़ार टन होता था। इसमें से २ लाख ३० हज़ार टन, अर्थात् क़रीब आधा बाहर के देशों को निर्यात कर दिया जाता था। इस निर्यात से बर्मा को क़रीब २५ लाख पौंड की वार्षिक आय हो जाती थी। उन दिनों सागवान की लकड़ी के उत्पादन में बर्मा का दर्जा संसार में सबसे पहला था। बर्मा के आसपास के देशों तथा भारत में सागवान का उत्पादन बर्मा के मुकाबले में बहुत थोड़ा है। स्याम में

सागवान का कुल उत्पादन ५४,००० टन, हिन्द चीन में १२,४०० टन, जावा में १०,००० टन और भारत में केवल १८०० टन होता है। सागवान के अतिरिक्त दूसरी लकड़ी, जो इमारतों, पुलों और रेलवे में काम आती है, बर्मा में उसका उत्पादन ४,१८,००० टन है।

चावल के बाद लकड़ी ही बर्मा का सबके बड़ा उद्योग है। लकड़ी के उद्योग से करीब १ लाख बर्मावासियों की रोज़ी चलती है और ७ हज़ार हाथी इस उद्योग में स्थायी रूप से लगे हुए हैं। चावल की तरह, लकड़ी के उद्योग का भी बर्मा में राष्ट्रीय-करण हो चुका है। अब लकड़ी का उत्पादन, चिराई, कटाई और निर्यात स्टेट टिंबर बोर्ड नाम की सरकारी संस्था के अधीन है।

खनिज

चावल और लकड़ी के बाद खनिज पदार्थों का बर्मा की राष्ट्रीय आय में बड़ा हाथ है। खनिज पदार्थों में पेट्रोल के अतिरिक्त सोना, चाँदी, सीसा, रांगा, टंगस्टन, तांबा, जस्ता और लाइम स्टोन के नाम लिये जा सकते हैं।

बर्मा में बड़ी-बड़ी खानों के केन्द्र दो हैं—मावची और नायतू। मावची की खानें टंगस्टन और रांगों का उत्पादन करने-वाली संसार में सब से बड़ी हैं।

नायतू

उत्तरी बर्मा में लाशियो एक प्रधान सैनिक कार्यालय है। उसके समीप ही नायतू की जगत्-प्रसिद्ध खाने हैं। वास्तव में खानें बाडविन में हैं जो नायतू से १२ मील दूर हैं, पर खनिज-कम्पनी का प्रधान कार्यालय नायतू में होने से वे खानें नायतू की खानें कहलाती हैं।

मेमियो से नायतू तक का सारा इलाका शान राज्य में है। शान राज्य बर्मा संघ का एक अंग है। परराष्ट्र, सुरक्षा और अर्थ-विभाग को छोड़कर इसका सम्पूर्ण शासन स्वतंत्र रूप से होता है। सच तो यह है कि शान-निवासी अपने को बर्मी नहीं मानते। इनकी भाषा भी बर्मी भाषा से भिन्न है। ये लोग बर्मी लोगों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, सुन्दर तथा परिश्रमी होते हैं। कहीं-कहीं तो शान राज्य को बर्मा संघ से अलग करने की माँगें भी उठाई जा रही हैं।

नायतू की खानों से निम्नलिखित धातु हर साल पैदा होती हैं: सोना १४०० औंस, चाँदी ६०,००,००० औंस, सीसा ८०,००० टन, जस्ता ६०,००० टन, ताँबा ८,००० टन, निकल ३,००० टन और कच्चा लोहा २५,००० टन। उपरोक्त खनिजों में सबसे अधिक उत्पादन सीसे का होता है, अतः नायतू की खानों को सीसे की खानें भी कहते हैं।

दूसरे महायुद्ध से पहले तक नायतू की खानों का संचालन बर्मा कारपोरेशन' नामक एक अँग्रेजी कम्पनी के द्वारा होता था। युद्ध के समय जापानी आक्रमणों ने यहाँ के खनिज कारखानों को एकदम नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उसके बाद जब ये कारखाने फिर से खड़े किये गये तब १९५७ में एक संयुक्त कारपोरेशन की स्थापना की गयी जिसमें बर्मा सरकार का ५१ प्रतिशत हिस्सा है।

नायतू नगर नायतू नदी पर बसा है। प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी नायतू एक आदर्श नगर है। नायतू के 'संयुक्त कारपोरेशन' ने खदान-कारखानों में काम करनेवाले छोटे-बड़े सभी कर्मचारियों के लिए मकान बनवा रखे हैं।

जवाहरात व कीमती पत्थर

खनिज पदार्थों के अतिरिक्त बर्मा अपने कीमती पत्थरों के लिए भी संसार में प्रसिद्ध है। यहाँ से निकलनेवाले नीलम, लाल और जेड संसार में बेजोड़ माने जाते हैं। इनके उत्पादन का सबसे बड़ा केन्द्र मोगोक है जो मांडले के उत्तर में है। जेड पत्थर का उत्पादन देश में ११वीं शताब्दी से होता आया है और इसके पीछे चीन और बर्मा में अनेक युद्ध भी हो चुके हैं। यहाँ से जेड का उत्पादन प्रतिवर्ष करीब २ हज़ार कैरेट तक होता है, नीलम और लाख को मिलाकर २ लाख कैरेट। कीमती पत्थरों की कटाई और सुन्दर तराश के लिए बर्मा के कारीगर दूर-दूर के देशों में बुलाये जाते हैं।

पेट्रोल

बर्मा पेट्रोल का एक बड़ा भंडार है इसको शायद प्रत्येक भारतवासी जानता होगा। बर्मा आयल कम्पनी या बी० ओ० सी० के नाम से कौन परिचित न होगा? मध्य बर्मा में इनानजाँव इस उद्योग का केन्द्र है। द्वितीय युद्ध से पूर्व, इनानजाँव में ४ हज़ार से भी अधिक कुएँ पैट्रोल के मौजूद थे और उनसे साढ़े-सत्ताईस करोड़ गैलन पेट्रोल हर साल निकाला जाता था। उन कुओं की एक विशेषता यह है कि सदियों से पेट्रोल निकाले जाने के बावजूद ये सूखे नहीं। १३वीं शताब्दी में बर्मा की यात्रा करनेवाले एक चीनी यात्री के उल्लेख के अनुसार पेट्रोल उस ज़माने में भी इनानजाँव के कुओं से निकाला जाता था।

पेट्रोल को साफ़ करने का एक बड़ा कारखाना रंगून के निकट सिरियम में है। जो इनानजाँव से ३,००० मील पर है। वहाँ से सीरियम तक ३,००० मील लम्बी पाइप लाइन है।

१०. भारत और बर्मा

बर्मा, श्रीलङ्का की भाँति, भारत का निकटतम पड़ौसी है। यद्यपि श्रीलङ्का के निवासियों में भारत ही का रक्त बहता है और बर्मा-वासी मङ्गोल जाति के हैं, और इस दृष्टि से श्रीलङ्का और भारत के सम्बन्ध अधिक मधुर होने चाहिए पर जो निकटता व सद्भाव भारत और बर्मा में है वह भारत और श्रीलङ्का में नहीं। सन् १६४२ से पूर्व बर्मा में भारतवासियों की संख्या ११ लाख थी, सन् १६४२ के जापानी आक्रमणों और केरन जाति के उपद्रवों के कारण अनेक भारतीयों को बर्मा छोड़ देना पड़ा। अब भी वहाँ भारतीयों की संख्या सात लाख है। उधर, श्रीलङ्का में, जापानी आक्रमण-जैसी कोई घटना नहीं हुई पर सात लाख भारतीयों में से केवल दो लाख बच रहे हैं और उनकी दशा भी दयनीय है।

बर्मा में भारतीयों को सब प्रकार की स्वतन्त्रता है। उन्हें प्रेम व आदर की दृष्टि से देखा जाता है, वे सरकारी नौकरियों में बड़े-बड़े पदों पर हैं, मंत्रिमण्डल में भी एक भारतीय है। वे बड़ी-बड़ी जायदादों और व्यापार के मालिक हैं। भूमि का राष्ट्रीय-करण होने पर उनके साथ कोई भेदभाव नहीं बरता गया। बर्मा इंडियन कांग्रेस, जो बर्मा में भारतवासियों की सबसे बड़ी संस्था है, के अपने शब्दों में 'भूमि बँटवारा करते समय भार-

तीयों की उपेक्षा नहीं की गयी।' बर्मा में बसनेवाले भारत-वासियों में से करीब आधे वहीं के नागरिक बन गये हैं। अनेक भारतीयों ने बर्मी स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध भी कर लिये हैं। बर्मी और भारतीय वहाँ ऐसे हिलमिल गये हैं जैसे वे एक ही देश के निवासी हों। जून १९५० में जब भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू बर्मा गये थे तब उन्होंने वहाँ बसनेवाले भारतीयों को सलाह दी थी कि "आपको चाहिए कि आप बर्मा ही को अपना देश समझें, अपना सुख-दुःख बर्मा के साथ जोड़ लें। आपका यहाँ रहने का उद्देश्य मात्र धन कमाना नहीं होना चाहिए।"

जनता के अतिरिक्त बर्मा और भारत की सरकारों में भी पूर्ण मैत्री-भाव है। जून १९५० में, जब पंडित जवाहरलाल नेहरू बर्मा गये थे तब वहाँ उनका बड़ा शानदार स्वागत किया गया था। इसी प्रकार अक्तूबर १९५१ में बर्मा के प्रधान मन्त्री थाकिन नू के भारत आने पर भी जनता व सरकार दोनो ओर से असीम प्रेम प्रदर्शित किया गया। थाकिन नू यहाँ से जाते समय बुद्धगया की पवित्र धूलि व कुछेक अन्य बौद्ध अवशेष, जो उनकी दृष्टि में अत्यन्त पवित्र थे, अपने साथ ले गये थे। इन सब को एक जुलूस की शकल में रंगून के वोटाटांग पगोडा में ले जाया गया। इसी प्रकार, सन् १९५० में भी कुछ पवित्र बौद्ध अवशेष बर्मी सरकार के अनुरोध पर भारत से बर्मा भेजे गये थे। वहाँ दो मास तक उनकी प्रदर्शिनी होती रही और लाखों बर्मावासियों ने श्रद्धा-भक्ति के साथ उन अवशेषों के दर्शन किये, उसके बाद वे भारत को लौटा दिये गये।

४ जनवरी १९४८ के दिन बर्मा एक पूर्ण स्वतन्त्र देश

हुआ, उसके एक साल बाद भारत सरकार ने एक ऐसा कदम उठाया जिसने बर्मावासियों का हृदय जीत लिया। बर्मा के प्रसिद्ध राजा अलङ्गपाया का कीमती सिंहासन, चाँदी की दरी और एक सुन्दर मेज़ ये चीजें भारत सरकार के कब्जे में थीं। सन् १८८५ के अन्तिम भारत-बर्मा युद्ध में अंग्रेज़ों ने इन चीजों को बर्मा के अन्तिम राजा थीबा को हराकर हस्तगत किया था। भारत ने ये चीजें उदारतापूर्वक बर्मा को लौटा दीं। इसका बर्मा की जनता और सरकार दोनो पर बहुत अच्छा असर हुआ।

बर्मा और भारत थोड़े से समय के अन्तर से, करीब-करीब एक साथ स्वतन्त्र हुए हैं। यह बात कुछ अचानक हो गयी हो ऐसी बात नहीं है। सत्य यह है कि दोनो देशों में स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन साथ-साथ चला, उन आन्दोलनों का तरीका एक-सा रहा और दोनो आन्दोलन एक दूसरे से पूर्णतया प्रभावित होते रहे। बर्मी नेता इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन ने, जो महात्मा गांधी के नेतृत्व में सफलतापूर्वक चला, बर्मा में स्वाधीनता की भावना पैदा करने में बड़ी सहायता पहुँचाई।

भारत सरकार की ओर से हर साल अनेक बर्मी नवयुवकों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं कि वे भारतीय विश्वविद्यालय में रहकर तकनिकी शिक्षा प्राप्त करें और वापस जाकर अपने देश को उन्नत व सम्पन्न बनाने में सहयोग दें। इससे एक बड़ा लाभ यह भी होगा कि इन बर्मी नवयुवकों को भारतवर्ष को समझने का एक अच्छा अवसर मिलेगा और इससे दोनो देशों में संपर्क और सद्भाव बढ़ेगा।

भारत और बर्मा में व्यापार

भारत बर्मा के चावल का एक बड़ा ग्राहक रहा है। जापानी आक्रमण के पूर्व पन्द्रह लाख टन चावल हर साल बर्मा से भारत आता था। जापानी आक्रमण से होनेवाले नुकसान को बर्मा अब तक पूरा नहीं कर पाया; फिर भी ढाई लाख टन चावल आजकल भी बर्मा से भारत में आता है।

सन् १९५० और ५१ में भारतीय व्यापार-शिष्टमंडल बर्मा गया था ताकि दोनो देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध मज़-बूत किये जा सकें, सन् ५१ में जानेवाले शिष्टमण्डल का नेतृत्व उस समय के केन्द्रीय खाद्य मन्त्री श्री के० एम० मुन्शी ने किय था। उस शिष्टमण्डल की कोशिशों का यह फल निकला कि २९ सितम्बर १९५१ को दोनो देशों में एक व्यापारिक सम-झौते पर हस्ताक्षर हो गये और दोनो देशों के बीच व्यापार की नींव मजबूत पड़ गयी। उस समझौते का मूल उद्देश्य 'पारस्प-रिक मित्रता, आर्थिक सहयोग और व्यापारिक सम्बन्ध' रखा गया।

उपरोक्त समझौते के अनुसार यह तय हुआ कि बर्मा हर साल ३१ दिसम्बर तक साढ़े तीन लाख टन चावल भारत को निर्यात करेगा; और भारत हर साल उसी तारीख के भीतर पन्द्रह हज़ार टन बोरियाँ, आठ हज़ार टन मूँगफली का तेल, आठ लाख पौंड सूत और बयालीस हज़ार टन लोहे की चादरें बर्मा को निर्यात करेगा। इसके अतिरिक्त यह भी तय हुआ कि बर्मा इस बात की खुली छूट देगा कि वहाँ से चना, दालें, शकरकन्द, सीसा और सागवान की लकड़ी का जितना चाहे, भारत को निर्यात किया जा सके; इसी प्रकार भारत की

ओर से भी इस बात की खुली छूट रहेगी कि सूती वस्त्र व रेयन, होज़री, नारियल, चमड़ा, रबड़, बिजली का सामान, रासायनिक पदार्थ, मसाले, साबुन, शृंगार का सामान, मछली, फल, सब्ज़ियाँ और तमाखू आदि का जितना चाहे बर्मा को निर्यात किया जा सके।

बर्मा और भारत के बीच व्यापारिक सम्बन्ध सदियों पुराना है। दोनो देशों के स्वतन्त्र होने के बाद तो इस सम्बन्ध को और भी अधिक बढ़ाने की ज़रूरत है। व्यापारिक सम्बन्ध ही दूसरे सम्बन्धों की बुनियाद होते हैं। सौभाग्य की बात यह है कि दोनो देशों के नेता इस बात के महत्व को पूरी तरह समझते हैं और सदैव उसकी कोशिश में रहते हैं।

मैत्री-सन्धि

७ जुलाई, १९५१ के दिन भारत और बर्मा के बीच एक मैत्री-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, इस मैत्री-सन्धि को ऐतिहासिक कहा जा सकता है। बर्मा भारत की तरह राष्ट्रमण्डल का सदस्य नहीं है। अमरीकी सहायता व अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी उसकी नीति भारत की अनुगामिनी न होकर पूर्णतः स्वतन्त्र है। उसकी भारत के साथ हुई मैत्री-सन्धि का आधार पूर्णतया हार्दिक व प्रेममय है। उससे यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ प्रेम और सद्भाव हो वहाँ विचारों का भेद कुछ असर नहीं रखता।

उपरोक्त मैत्री-सन्धि के मूल उद्देश्य की व्याख्या निम्नलिखित ढंग से की गयी है—"भारत और बर्मा के बीच चिरकाल से अनेक प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं, यह सन्धि उन सम्बन्धों को सदा के लिए दृढ़ कर देगी, इससे दोनो देशों में शन्तिपूर्ण



भारत में वर्मा के वर्तमान राजदूत
हिज़ एक्सलेंसी थाडो महाथ्रे सिकू ऊ थान आंग

सहयोग और प्रेम की भावना मज़बूत होगी।"

दोनो देशों की यह मैत्री केवल कोरे कागज़ों ही में न रह कर हार्दिक और वास्तविक सिद्ध हो इसकी दोनो ओर के नेताओं को पूरी चिन्ता है। सन्धि में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि इसे चिर-स्थायी बनाने के लिए दोनो देशों के प्रतिनिधि समय-समय पर आपस में मिलते रहेंगे और आपसी समस्याओं को सदा शान्तिपूर्ण वार्तालाप से सुलझाने की कोशिश करेंगे।

सन्धि की धाराओं में सबसे पहली धारा यह है कि दोनो देशों में मित्रता और शान्तिपूर्ण सहयोग का सम्बन्ध सदा अटूट रहेगा। दोनो में से कोई भी देश दूसरे के अपराधियों को अपने यहाँ शरण नहीं देगा। एक-दूसरे की प्रवासी समस्या को प्रेम और सहानुभूति द्वारा सुलझाया जायेगा। सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों को क्रमशः सुदृढ़ बनाने की कोशिश की

जायेगी।

उपरोक्त मैत्री-सन्धि की शुरू की मीयाद ५ साल रखी गयी थी; उसके बाद भी यह सन्धि चालू रहेगी यदि दोनो देशों में से कोई एक उसे समाप्त न करना चाहे। यदि कोई समाप्त करना चाहे तो उसके लिए आवश्यक होगा कि वह कम-से-कम ६ महीने की नोटिस दे। अब १९५८ में उपरोक्त सन्धि को ६ साल पूरे हो चुके हैं और ७वाँ साल चल रहा है। अभी तक तो इसके उत्तरोत्तर अधिक मज़बूत होने ही के आसार नज़र आ रहे हैं।

उपरोक्त सन्धि पर हस्ताक्षर होने के बाद रंगून में भारतीय राजदूत तथा बर्मा के विदेश मंत्री ने जो उद्गार प्रकट किये थे वे स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य हैं। भारतीय राजदूत ने कहा था—"अतीत काल में, कभी भारत और बर्मा ने एक-दूसरे से युद्ध नहीं किया। आज भी दोनो देशों के बीच एक बहुत बड़ी समान बात यह है कि दोनो देश अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब के प्रति प्रेम व मैत्री की भावना से ओतप्रोत हैं और द्वेष का भाव उनमें किसी के प्रति नहीं है। दोनो देशों की यह सच्ची कामना है कि अधिक-से-अधिक देश उनके साथ इसी प्रकार की मैत्री-सन्धि में गुँथ जायें।"

बर्मा के विदेश मंत्री ने उस अवसर पर कहा था—"यदि इस सन्धि पर हम हस्ताक्षर न करते तब भी हम दोनो देशों का प्रेम व आदर-सम्बन्ध उत्तरोत्तर दृढ़ ही होता। यह सन्धि तो दोनो देशों के शताब्दियों के सौहार्द का स्वाभाविक परिणाम है। हमारे सुख-दुःख, हमारी समस्याएँ और यहाँ तक कि दोनो देशों के स्वाधीनता-आन्दोलन भी एक दूसरे से इतने समान रहे हैं कि

हमारा सम्बन्ध कभी टूट ही नहीं सकता।"

७ जुलाई, १६५१ के दिन इस मैत्री-सन्धि पर रंगून में हस्ताक्षर हुए थे। ८ जुलाई, १६५१ को अर्थात् दूसरे दिन, बर्मा के सभी समाचारपत्रों ने मोटे-मोटे शीर्षकों में इस सन्धि का स्वागत किया था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सारा देश इस सन्धि के समाचार को पढ़कर गद्गद हो उठा है। रंगून से प्रकाशित होनेवाले 'दी न्यू टाइम्स आफ़ बर्मा' ने अपने उस दिन के मुखपृष्ठ पर लिखा था—"दोनो देशों के इतिहास में एक नया, शानदार अध्याय आ जुड़ा है। यह सन्धि दोनो देशों की जनता के पारस्परिक प्रेम का बाहरी प्रकाशन है। भारत ने प्राचीन बौद्ध अवशेषों को सौंपकर बौद्ध धर्म के प्रति जो आदर का भाव व्यक्त किया है, बर्मा उसे भूल नहीं सकता।"

उसी अवसर पर, बर्मा के एक दूसरे प्रमुख समाचारपत्र 'दी बर्मन' ने लिखा था—"भारत और बर्मा का सम्बन्ध ढाई हज़ार वर्ष प्राचीन है, जब बौद्ध धर्म का उदय हुआ था। दोनों देशों की एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति व प्रेम स्वाभाविक है; इस सन्धि ने कोई नयी बात नहीं कर दी।"

समस्याएँ

दोनो देशों के स्वतन्त्र होने के बाद कुछेक समस्याएँ भी दोनो देशों के बीच खड़ी हो गयीं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक होगा। सौभाग्य की बात यह है कि उन समस्याओं को दोनो देशों ने बड़े शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया और बर्मा में रहनेवाले भारतीयों ने उसमें हर तरह से सहयोग दिया।

स्वतन्त्र होने के बाद बर्मा ने अपने यहाँ के सब स्कूलों में बर्मी भाषा अनिवार्य कर दी। शिक्षा का माध्यम भी बर्मी भाषा

हो गयी । मैट्रिक परीक्षा में बर्मी भाषा के पेपर का स्टैंडर्ड ऊँचा कर दिया गया । इससे बर्मा में रहनेवाले उन भारतीयों के सामने कठिनाई पैदा हो गयी जो बर्मा के नागरिक नहीं बने थे और जो अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा हिन्दी के माध्यम से कराना चाहते थे ।

स्वतन्त्रता से पहले, बर्मा में प्रत्येक स्कूल को चाहे उसमें बर्मी भाषा पढ़ाई जाती हो अथवा नहीं, सरकारी सहायता मिल जाती थी । पर स्वतन्त्रता के बाद, सरकारी सहायता के अभाव में वे स्कूल बन्द कर देने पड़े जिनमें बर्मी नहीं पढ़ाई जाती है । पर बर्मा में रहनेवाले भारतीयों ने इस समस्या के आगे हार नहीं मानी और न ही उन्होंने बर्मा की उस राष्ट्रीय भावना का किसी रूप में विरोध किया । हुआ यह कि बर्मा की तमाम भारतीय संस्थाएँ इस प्रश्न पर सहयोग-सूत्र में बँध गयीं और आपस में चन्दा जमा करके उन्होंने 'इंडियन एजुकेशनल सोसायटी' नाम से एक संस्था का संगठन कर लिया । इस संस्था के अधीन चलनेवाले स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी और पाठ्यक्रम ऐसा रखा गया कि कलकत्ता और रंगून विश्वविद्यालयों में से किसी की भी परीक्षाओं में विद्यार्थी बैठ सके ।

दूसरी समस्या बर्मा के प्रवासी भारतीयों की यह है कि दोनो देशों की मुद्राओं की विनिमय दर निश्चित न होने से बर्मा में काम करनेवाले मज़दूरी पेशा और दूसरे लोग भारत में अपने परिवारों और रिश्तेदारों को रुपया आसानी से नहीं भेज सकते थे । मनीआर्डर द्वारा उन्हें एक साथ ४०) रुपये से अधिक भेजने की इजाज़त नहीं थी और इतनी रकम भेजने में एक मज़दूर को ८) रु० मनीआर्डर फ़ीस के ख़र्च करने पड़ते

थे। बर्मा की इंडियन कांग्रेस ने बर्मा सरकार तक इस बात की शिकायत पहुँचाई और अब जहाँ तक मालूम हुआ है, उनकी इस शिकायत पर पूरा ध्यान दिया गया है।

तीसरी समस्या बर्मा के भारतीयों के सामने यह है कि वहाँ मन्दिरों, आर्यसमाजों, मसजिदों, गुरुद्वारों तथा धर्मशालाओं का प्रबन्ध वैसे समुचित ढंग से नहीं हो रहा जैसा पहले समय में जब कि भारतीयों की संख्या, जापानी आक्रमण से पूर्व, काफ़ी थी। पर सच पूछा जाये तो इस समस्या के हल के लिए बर्मी सरकार पर अधिक आशा लगाने की अपेक्षा वहाँ के भारतीयों को अपने ही उद्योग पर निर्भर करना चाहिए।

बर्मा स्वयं इस समय कठिन घड़ी में से गुजर रहा है। केरन जाति के उपद्रव अभी तक शान्त नहीं हुए और गत ६ वर्षों से वे बर्मा सरकार के सिर-दर्द का कारण बने हैं। यों अब इस बात की आशा हो चली है कि ये उपद्रव शीघ्र ही शान्त हो जायेंगे। १९५३ से आज तक २० हजार केरन उपद्रवी आत्म-समर्पण कर चुके हैं। एक नया केरन राज्य भी, जो अपने भीतरी मामलों में स्वतन्त्र रहेगा, स्थापित हो चुका है। बर्मा में रहनेवाले भारतीयों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे बर्मा सरकार को इन समस्याओं को हल करने में हर तरह की सहायता पहुँचायें। उनका बर्मा में काफी प्रभाव है। वे आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न हैं और स्वभाव से भी शान्तिप्रिय हैं। उनका अब तक का रवैया काफ़ी अच्छा रहा है, और आशा है कि भविष्य में भी वे एक दूसरे के सहायक होकर रहेंगे।

११. बर्मी राष्ट्र के कर्णधार

आंग सान

प्रत्येक राष्ट्र के निर्माण में उसके कुछ महान् नेताओं का हाथ होता है। उस राष्ट्र का परिचय उन नेताओं के बिना अधूरा रह जाता है। यदि आधुनिक भारत का कोई व्यक्ति इतिहास लिखने बैठे और महात्मा गांधी का नाम छोड़ जाये तो वह इतिहास अधूरा रहेगा। इसी प्रकार बर्मी राष्ट्र के कुछ कर्णधारों का परिचय दिये बिना इस पुस्तक को समाप्त नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार भारत के स्वतन्त्रता संग्राम को सफलता तक ले जाने का श्रेय अखिल नेशनल कांग्रेस को है, उसी प्रकार बर्मा के स्वतन्त्रता संग्राम के सुन्दर ढंग के संचालन का श्रेय ए. एफ. पी. एफ. एल. (Anti Fascist People's Freedom League) नामक संस्था को है। इस संस्था की स्थापना करनेवाले थे बर्मा के सबसे शिरो मणि नेता आंग सान। आंग सान का नाम लेते ही प्रत्येक बर्मी का सिर उसी प्रकार झुक जाता है जिस प्रकार महात्मा गांधी का नाम लेने पर प्रत्येक भारतीय का। आंग सान को यदि बर्मा का गांधी कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी।

आंग सान केवल ३२ वर्ष तक जिये। जिस प्रकार देश की स्वतन्त्रता को किनारे लगा देने के बाद, महात्मा गांधी की अपने

ही लोगों द्वारा हत्या कर दी गयी उसी प्रकार १६ जुलाई १६-४४ के दिन आंग सान की भी उन्हीं के किसी देशवासी द्वारा हत्या कर दी गयी। उस समय वे अपनी कार्यकारिणी परिषद की अध्यक्षता कर रहे थे।



बोग्योक आंग सान

आंग सान का जन्म यनंग यांग जिले के नारमाक नामक गाँव में सन् १६१४ में हुआ। शुरू-शुरू में बर्मा की प्रथा के अनुसार ये नारमाक के एक चाँव में दाखिल किये गये। प्रारम्भिक हिसाब-किताब और पढ़ाई-लिखाई का अभ्यास उन्होंने इसी गाँव के फुंजी की अधीनता में किया। बाद में अपने जिला स्कूल से इन्होंने मैट्रिक पास किया। तब ये रंगून विश्वविद्यालय में आ गये और वहाँ इन्होंने बी० ए० तथा कानून की परीक्षाएँ पास कीं। इनके माँ-बाप की हार्दिक इच्छा थी कि ये उच्च शिक्षा के लिए विलायत भेजे जायें, पर इनकी दिलचस्पी देश के राजनीतिक जीवन में थी। इन्होंने आगे पढ़ने का विचार त्याग दिया।

उन दिनों सन् १६४१ में बर्मा की एकमात्र सर्वप्रिय राजनीतिक संस्था 'हम बर्मी' थी। ये उसके महामन्त्री चुने गये

और बड़ी लगन से इन्होंने काम किया। उसी साल बर्मा के राजनीतिक आन्दोलन का प्रभावशाली ढंग से संचालन करने के लिए इन्हें बर्मा छोड़कर विदेश चले जाना पड़ा।

सन् १९४२ के जापानी आक्रमण के बाद, बर्मा की स्वतन्त्र सरकार जापानियों की देखरेख में स्थापित हुई। इस सरकार के प्रधान मन्त्री डा० बा माऊ चुने गये। डा० बा माऊ ने आंग सान को अपने मन्त्रिमण्डल में सुरक्षा मन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित किया। पर इन्हें अंग्रेज़ों की दासता से निकलकर जापानियों की दसता में बँध जाना स्वीकार नहीं था। जापानियों के बर्ताव से इन्हें इस बात का विश्वास नहीं होता था कि उनकी नीयत बर्मा को स्वतन्त्र करने की है। तब इन्होंने छुपे-छुपे जापानियों के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया।

सन् १९४५ में अंग्रेज लोग फिर बर्मा वापिस आ गये और उन्होंने नये सिरे से वहाँ पैर जमाने की कोशिश की पर अब परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। जापानियों के जमे हुए पैरों को बर्मा से उखाड़ने के लिए यह आवश्यक था कि वे डा० बा माऊ की बर्मी सरकार से, जो नाममात्र ही को सही स्वतन्त्र थी, सहायता लेते। इसके लिए उन्हें बर्मी नेताओं से भीतर-ही-भीतर समझौता करना पड़ा। इस समझौते में यह तय हुआ कि बर्मी नेताओं की सहायता के बदले, जापानियों के चले जाने पर, बर्मा को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जायेगी। आंग सान और दूसरे नेता तब जी-जान से जापानियों को बर्मा से खदेड़ने में जुट गये। लार्ड माउंटबेटन के शब्दों में 'उसका अधिकांश श्रेय बर्मा के वीर नेता आंग सान को है।'

ऊ नू

स्वतन्त्र बर्मा के सर्वप्रथम प्रधान मंत्री ऊ नू की प्रतिभा और

साहस का पहले-पहल परिचय संसार को तब मिला जब १९ जुलाई १९४७ को बर्मा के कुछ देशद्रोहियों ने आंग सान और उनके साथियों की एकाएक हत्या करके बर्मा को अँधेरे और निराशा के गड्ढे में धकेल दिया। जब सारा देश इस अचानक वज्रपात से सहम गया तब ऊ नू ने रातों रात नये मंत्रिमंडल का संगठन करके विद्रोहियों की चाल को निरर्थक कर दिया।

ऊ नू एक आदर्श बौद्ध हैं। कर्मशीलता और वैराग्य का उनके जीवन में अद्भुत मेल है। साढ़े आठ साल तक सफलता-पूर्वक वे प्रधान मंत्री के पद पर रहे। पर जब उन्होंने देखा कि वे प्रधान मंत्री के पद से अलग होकर देश का अधिक कल्याण कर सकते हैं तब सन् १९५६ के आरम्भ में, उन्होंने प्रधान मंत्री का पद इस तरह छोड़ दिया जैसे पुराना चोला उतार दिया जाता है। बर्मा की जनता में उनके इस त्याग और निःस्वार्थ भाव की बड़ी प्रशंसा हुई और वे जनता के हृदय-सम्राट् बन गये। उनके त्याग के पीछे किसी प्रकार का रोष या कलुषता नहीं थी, और तब से लेकर अब तक वे बर्मा के नये प्रधान मंत्री को हार्दिक सहयोग देते आ रहे हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन ए. एफ़ पी. एफ़. एल. संस्था को मजबूत बनाने और जनता के चरित्र को ऊँचा उठाने में लगा दिया है। इस दृष्टि से बर्मा भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक प्रजातांत्रिक और सौभाग्यशाली है। भारतीय प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने अनेक बार प्रधान मन्त्री पद का त्याग करने की इच्छा की, पर हर बार इसी डर से रह गये कि उनके बाद काम कैसे चलेगा।

ऊ नू न केवल बर्मा के एक महान् राजनीतिक नेता हैं, बल्कि उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक भी हैं। बर्मा में वे एक प्रसिद्ध

नाटककार के रूप में भी प्रख्यात हैं। उनका 'जनता की विजय' नामक नाटक तो बहुत प्रसिद्ध हुआ है। उसका अमरीका में भी अभिनय हो चुका है, और अमरीकी जनता ने उसे बहुत पसन्द किया था।

ऊ नू का प्रभाव अब बर्मा ही तक सीमित नहीं है, बल्कि भारतीय प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू की तरह, उनका प्रभाव सारे एशिया में है। सन् १९५५ में बांडुंग (इंडोनेशिया) में एशिया व अफ्रीका के देशों का जो ऐतिहासिक सम्मेलन हुआ था उसके उत्साही संयोजकों में श्री ऊ नू थे।



बर्मा के प्रसिद्ध नेता ऊ नू

ऊ नू को यदि बर्मा का नेहरू कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। नेहरू की तरह, उन्होंने भी अपने देश को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत ऊँचा उठाया है। नेहरू ही की तरह वे साहस, प्रतिभा और शान्ति के देवदूत हैं। नेहरू ही की तरह राजनीतिक जीवन होते हुए भी उनमें बहुमुखी विद्वत्ता और साहित्यिक रूचि है। वे नेहरू जी की तरह घोर ईमानदार, निःस्वार्थ और बर्मी जनता के हृदय-सम्राट् हैं।

ऊ नू का जन्म बर्मा के एक छोटे से नगर वकेमा में २५ मई सन् १९१७ को हुआ। यह नगर मयगम जिले में है। ऊ नू के पिता एक सामान्य व्यापारी थे। इन्होंने मैट्रिक तक की पढ़ाई मायोमा के नैशनल बायज़ हाई स्कूल में की और युनिवर्सिटी कालेज रंगून से बी० ए० पास किया। इसके बाद पनटाना हाई स्कूल में ये सुपरिंटेंडेंट बन गये। बस यहीं से इनकी दिलचस्पी राजनीति में शुरू हुई। उन दिनों आप प्राइवेट तौर पर कानून का अध्ययन कर रहे थे। आप छात्रों में बड़े प्रिय हो गये और शीघ्र ही उनके नेता बन गये। रंगून विश्वविद्यालय के छात्र-संघ ने आपको अपना अध्यक्ष चुन लिया। आप आंग सान के परम विश्व-सनीय मित्रों में थे।

सन् १९३९ में जब दूसरा महायुद्ध छिड़ा तब ये बर्मा की उस समय की सबसे प्रमुख राजनीतिक संस्था 'हम बर्मी' के एक उत्साही सदस्य थे। इन्हीं के प्रयत्न से उस संस्था में यह प्रस्ताव पास हुआ कि यह संस्था अंग्रेज़ों की सहायता केवल इस शर्त पर कर सकती है कि युद्ध के बाद अंग्रेज बर्मा को पूर्णतया स्वतन्त्र कर दें। उन दिनों यह प्रस्ताव अत्यन्त क्रान्ति-कारी था और उसे पास करना हँसी-खेल नहीं था। इस प्रस्ताव के पास होते ही अँग्रेजों ने ऊ नू को कैद कर लिया और दो साल की सज़ा दे दी।

१९४३ में जापानियों के नेतृत्व में जब डा० बा माऊ ने अपनी सरकार बनायी तब ये उसमें विदेश मंत्री बने। उसी सन् के अन्त में अँग्रेजों के कब्जा कर लेने पर वह सरकार भंग हो गयी, पर उस समय अँग्रेजों को जापानियों को बर्मा से पूरी तरह खदेड़ने के लिए बर्मी नेताओं के सहयोग की भारी जरूरत थी।

अतः उनसे उन्हें भीतर-ही-भीतर समझौता कर लेना पड़ा। वह समझौता कराने में ऊ नू का बड़ा हाथ था। अँग्रेजों ने जब बर्मा को स्वाधीन करने के लिए संविधान सभा का संगठन किया तब आप ही उसके अध्यक्ष चुने गये।

ऊ बा स्वे

सन् १९५६ के शुरू में ऊ नू के पद-त्याग करने पर ऊ बा स्वे बर्मा के प्रधान मंत्री चुने गये। ऊ नू के प्रधान मंत्रित्व-काल में ये सुरक्षा मंत्री थे।

ऊ बा स्वे का जन्म तैवोय ज़िले के ऑतबिकविन नामक गाँव में सन् १९१५ में हुआ। ये बर्मा की प्रसिद्ध राजनीतिक संस्था ए-एफ़ पी-एफ़ एल के सन् १९५५ में प्रधान चुने गये और आज तक उसके प्रधान हैं। इनका झुकाव समाज वादी विचार - धारा की ओर है।

इनकी मैट्रिक तक की पढ़ाई तैवोय के जिला



बर्मा के वर्तमान प्रधान मन्त्री ऊ बा स्वे

हाई स्कूल और उच्च शिक्षा रंगून विश्वविद्यालय में हुई। राजनीति में इनकी दिलचस्पी छात्रावस्था ही से थी। अभी ये फर्स्ट ईयर ही में थे कि अपने कालेज की पत्रिका के व्यवस्थापक बना दिये गये। सन् १६३६ में ये अखिल बर्मा छात्र-संघ के महा मन्त्री और सन् १६४१ में विश्वविद्यालय छात्र-संघके अध्यक्ष चुने गये।